ओम् तत्सत्

सहज मार्ग की एक झलक

लेखक

ईश्वर सहाय

श्री रामचन्द्र मिशन

शाहजहाँपुर

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९९० २००० प्रतियाँ

(मूल अंग्रेजी पुस्तक 'ए पीप इंटु सहज मार्ग' से अनूदित)

अनुवादक

गोपीकृष्ण मणियार

© श्री रामचंद्र मिशन, १९९०

I. S. B. N. 81 85177 33 3

मूल्य : बीस रुपया

पुस्तक मिलने का पता :

श्री रामचंद्र मिशन (इलाहाबाद केन्द्र)

C-६४४, गुरु तेग बहादुर नगर

इलाहाबाद-२११०१६ (उ० प्र०)

मुद्रक : शाकुन्तल मुद्रणालय

३४, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

सहज मार्ग भारतीय दर्शन की युगों पुरानी छ विचार धाराओं में एक नवीन योगदान है। यह केवल दर्शन ही नहीं है, वरन परमात्मा से योग की एक व्यावहारिक विधि है जिसका आधुनिक जीवन क्रम में सरलता से अभ्यास किया जा सकता है। श्री ईश्वर सहाय जी ने अपनी मूल पुस्तक 'ए पीप इंटु सहज मार्ग' में इसके सिद्धांतों और अभ्यास प्रणाली को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। हमें प्रसन्नता है कि अब हम इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद पाठकों के सामने रख रहे हैं। यह अनुवाद हमारे मिशन के अभ्यासी, श्री गोपी कृष्ण मणियार ने बड़ी मेहनत और लगन के साथ किया है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं। अनुवाद के अवलोकन और परिष्कृति में हमें श्री रमेश चन्द्र मालवीय से सहायता मिली है। हम उनके भी आभारी हैं।

बसंत पंचमी   **चंद्रिका प्रसाद**
३१ जनवरी १९९०   श्री रामचंद्र मिशन, इलाहाबाद केंद्र

मूल पुस्तक के दूसरे संस्करण पर प्रकाशक की टिप्पणी

"ए पीप इंटु सहज मार्ग" का संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित करते हुये हमें प्रसन्नता हो रही है।

इस पुस्तक के लेखक के प्रति, जो २ जनवरी १९६७ को दिवंगत होने के कारण दुर्भाग्यवश हमारे बीच अब नहीं हैं, स्नेह भरी वन्दना के कुछ शब्द आवश्यक हैं। स्वर्गीय ईश्वर सहाय जी स्वयं में एक संस्था थे। वह 'मिशन' के अक्लांत और

समर्पित कार्यकर्त्ता थे और इसके योग्यतम प्रशिक्षकों में से एक थे, जो सभी सांसारिक परिस्थितियों में सन्तुष्ट और प्रसन्न मन रहे।

यह पुस्तक सहज मार्ग पर एक प्रामाणिक रचना है और उसमें आने वाली बारीकियों और गहराइयों का विशद विवरण प्रस्तुत करती है। वर्षों तक परम सद्गुरु से बहुत निकटता के कारण, और उनके अनुग्रह से प्राप्त उच्चकोटि के आध्यात्मिक अनुभवों से संयुक्त होने के कारण, लेखक वह सब सरल भाषा में बता सके हैं, जो एक जिज्ञासु इस मार्ग की गूढ़ताओं के विषय में जानना चाहेगा। जो प्रसंग उन्होंने चुने हैं वे सामान्य दार्शनिक अभिरुचि के हैं परन्तु उन्हें उपस्थित करने के उनके ढंग से विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों की गुत्थियाँ खुल गयी हैं।

ज. र. क. रायज़ादा
अधीक्षक, प्रकाशन विभाग
श्री रामचन्द्र मिशन
शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश

वसंत पंचमी
२२ जनवरी १९६९

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	भूमिका	१
	विषय-प्रवेश	१५
१.	संसार जैसा अभी है	१७
२.	अस्तित्व की पहेली	३५
३.	योग-विज्ञान	७२
४.	मन और ध्यान	११७
५.	सहज मार्ग	१४८
६.	जो भावी है	१७५

भूमिका

सहजमार्ग के सारभूत तत्वों को सर्वाधिक प्रामाणिक ढंग से उपस्थित करने वाले ग्रंथों में से एक की भूमिका लिखते हुये मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। ईश्वर से मिलन अथवा योग की एक नयी, स्वाभाविक और सहज विधि, सहज मार्ग को फतेहगढ़ के श्री रामचन्द्रजी ने खोज निकाला। पर इसे परिपूर्ण बनाने और परम सत्य और मोक्ष के जिज्ञासुओं को उपलब्ध कराने का श्रेय शाहजहाँपुर के श्री रामचन्द्रजी को है। श्री ईश्वरसहाय ने, जो इस मिशन के योग्यतम प्रशिक्षकों में से एक हैं और श्री रामचन्द्रजी के घनिष्ठ सम्पर्क में हैं, हमें योग की इस पद्धति का संदेश और गहरी जानकारी दी है।

बहुतों के लिए योग का अर्थ है केवल ईश्वर से संयुजन या संपर्क की एक विधि। यह तथ्य पूरी तरह से नहीं समझा जाता है कि एक बार प्राप्त हो जाने के बाद यह योग या संयुजन एक सिद्धि किंवा ईश्वर से स्थायी संबन्ध है। यह शंका इसलिए उठाई गयी है कि साधारणतः संयोग को अल्पकालिक संयुजन और समवाय को स्थायी संयुजन माना जाता है। पर व्यष्टिगत आत्मा का लक्ष्य ईश्वर के साथ स्थायी संयुजन है,

अस्थायी संयुजन या सम्पर्क नहीं। इसके अतिरिक्त, संयुजन की भी कई अवस्थाएँ हैं—सामीप्य (निकटता), सारूप्य (सादृश्यता), सालोक्य (एक ही लोक में निवास), सायुज्य (ईश्वर और आत्मा का पारस्परिक प्रगाढ़ मिलन)। साधना का लक्ष्य या सिद्धि है ईश्वर के साथ परम, अंगीभूत, पारस्परिक, अविच्छेद्य मिलन। कुछ लोग तो इस बात तक की पुष्टि करने लगते हैं कि यही आत्मा का ईश्वर में लीन हो जाना—लय है।

कुछ ऋषियों के अनुसार, इन चार अवस्थाओं से ही अन्त नहीं हो जाता। यह केवल ईश्वर-मिलन की ओर वापसी ही नहीं है, ईश्वर-मिलन सुदृढ़ रूप से हस्तगत करने के बाद यह ईश्वरीय लीला के लिए ईश्वर के अवतार-लोकों की ओर वापसी भी है। यह सब चाहे जो भी हो, तात्कालिक लक्ष्य तो ईश्वर-मिलन ही है, सुदूरवर्ती लक्ष्य हो सकता है ईश्वर से संयुक्त होकर, उनकी संगति में, उनके लोकों और प्रासादों की प्राप्ति और आनन्द।

सहजमार्ग की साधना का लक्ष्य है परम सत्य का साक्षात्कार, जो इसके साथ संयुक्त हो जाना ही है। यद्यपि महर्षियों ने कहा है कि इस परम सत्य का, जिसे मनोविज्ञान में आत्मा और सत्तामीमांसा[1] में ब्रह्म या अनंत कहा गया है,

---

१. Ontology.

दर्शन आवश्यक एवं सम्भव है। कहा जाता है कि यह तीन सोपानो[1] में प्राप्त होता है—श्रोतव्यः (सुना जाता है), मन्तव्यः (कल्पना किया जाता है), निदिध्यासितव्यः (ध्यान किया जाता है)। देखने को (दृष्टव्यः) यह अन्त में मिलता है।

इस प्रकार हमारे जीवन का लक्ष्य ईश्वर अर्थात् परम सत्य का दर्शन है और इसका बहुत गहरा सम्बन्ध है अपनी मुक्ति या अपने चारों ओर फैले हुये अज्ञान से छुटकारे से। आत्मा या जीव के रूप में हमारी प्रकृति हमारे सामने उद्घाटित होती है। अपनी प्रकृति का दर्शन और परम सत्य के साथ अपने घनिष्ट सम्बन्ध का ज्ञान हमें अपनी दुर्गति, अज्ञान और बेबसी से, नश्वरता और भय से, मुक्त कर देता है और सुनिश्चित परम आनन्द देता है। एक अर्थ में, सारे शास्त्र जन्म-मरण के पुनरावर्तक चक्र की दासता, अज्ञान और दुर्गति से परे, इसी परमानन्द और कृतार्थता की आशा बँधाते हैं। यही हमें

---

१. वृहदारण्यक उपनिषद II ४.५—आत्मा-वाडरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

देखिये—याज्ञवल्क्यस्मृति I ८—अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनम्।

देखिये—मुण्डक उप० II २.८—भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यते सर्व-संशयः। क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

जीवन में सामंजस्य प्रदान करता है और परम सत्य का अर्थ बताता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि केवल अनन्य भक्ति द्वारा ईश्वर को जाना और देखा जा सकता है, उसमें तत्त्वतः प्रवेश पाया जा सकता है (ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च)। इस प्रकार पहले ज्ञान, फिर दर्शन और अन्त में योग (सायुज्य)। हम यों समझें कि जानना दर्शन है, देखना धर्म और मिलन अध्यात्म। हमारा लक्ष्य है आध्यात्मिकता या ईश्वर से पूर्ण मिलन द्वारा, और उससे भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर, अपनी प्रकृति का दिव्यीकरण।

इन दिनों भारत में अनेक दर्शन या चिन्तन-विधियाँ चलन में हैं। पर दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि ये दर्शन विधियाँ केवल जानने के मार्ग हैं, दर्शन के मार्ग नहीं, क्योंकि इनमें से किसी में भी विचार दर्शन की ऊँचाई तक नहीं पहुँचता। दार्शनिकों ने इन पद्धतियों को "सिद्धान्त" की संज्ञा दी है। यद्यपि प्रत्येक चिन्तन-पद्धति जीवन की समस्या सुलझाने और परम सत्य की झलक भी दिखलाने का अन्ततः दावा करती है, पर वह हमें यह नहीं समझा पाती है कि इन प्रत्ययों[१] के विश्लेषण या प्रकृति और पुरुष के द्वैत के ज्ञान, या

---

१. Categories.

श्रवण से प्राप्त शास्त्र-ज्ञान भी हमें साक्षात्कार की अवस्था तक कैसे पहुँचायेंगे। शास्त्रेतर, विशेष कर बुद्ध और महावीर की पद्धतियों में, शास्त्रीय ध्यान एवं अन्य, मानसिक प्रक्रियाओं के परे जाकर, परम सत्य का व्यक्तिगत साक्षात्कार पाने की अनुभूत तीव्र आकुलता परिलक्षित होती है। पर आगे चल कर वे भी मानसिक प्रक्रिया के अभ्यास, मानसिक संशोधनों की रोकथाम या नैतिकता और शारीरिक प्रशिक्षण की आचार-संहिता मात्र रह गये। इस प्रकार, आध्यात्मिक आचार-संहिता के व्यावहारिक प्रतिपक्ष के अभाव में षड्-दर्शन-पद्धतियाँ दर्शन ही नहीं रह गईं। केवल वेदान्त अन्य दर्शनों को आत्मसात् कर, अत्यावश्यक साधना या व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान करने का प्रयत्न करता रहा। इस प्रकार आज केवल वेदान्त अकेला दर्शन रह गया है शास्त्रेतर दर्शन भी (तीन या चार सम्प्रदायों वाले) वेदान्त में समाहित हो गये हैं। लेकिन वेदान्त की भी साधना पर पकड़ शास्त्रीय प्रकरणों को सुनने के लिए इसके अत्यधिक आग्रह के कारण, ढीली पड़ने लगी, चाहे वे प्रकरण अद्वैत के महावाक्य हों, चाहे विष्टिाद्वैत की घटक श्रुतियाँ हों या द्वैत-भेद-समर्थक उद्धरण हों। इस प्रकार दर्शन श्रवण का अनुवर्त्ती चरण नहीं बन पाया। इसका कारण है कि योग अभ्यास की मौलिक विधि नहीं बन पायी। दर्शन-प्राप्ति की साधना में योग के पुनः प्रतिष्ठापन से (योगेनात्म-

दर्शनम) नवजागरण का प्रारम्भ होता है। अपनी सारी रचनाओं में श्री अरविंद ने इस पर बल दिया है, यही उनका मंत्र था।

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि विश्व में, जहाँ ब्रह्माण्डीय आयाम की, भारी उथल-पुथल पैदा करने वाली, घटनायें घटित हुई हैं, सत्य की व्यक्तिगत अनुभूति की माँग आग्रहपूर्ण रही है। पर व्यक्तिगत अनुभूति में वह सब शामिल है जिसकी हमें संवेदना होती है, जिसकी हम कल्पना करते हैं और स्वप्न देखते हैं, जिसकी हम आशा और आकांक्षा करते हैं और केवल वे ही नहीं जिनका सम्बन्ध परम सत्य से है। सभी कुछ प्रत्यक्ष अनुभूति से आता है। व्यापक अर्थ में 'दर्शन' का मतलब यथार्थ-दर्शन या ज्ञान-दर्शन से है और यह इन्द्रियों से परे होगा। इंद्रिय-ज्ञान और मानस-ज्ञान का अंतर्विरोध व्यक्ति को उस अनुभूति को पाने के लिए बाध्य करता है जो इन दोनों को ठीक से समझा सके। परम सत्य की अनुभूति की ओर यह आन्तरिक दाब दर्शन-शास्त्र को साक्षात्कार और आध्यात्मिक अनुभूति में (जो आत्मिक पूर्णता है) रूपान्तरित कर देता है।

सहजमार्ग का लक्ष्य है परमसत्य का साक्षात्कार, उसमें प्रवेश और उसी में जीना। इस प्रकार, यद्यपि साधारणतः देखने के पहले जानना होता है, पर देखना जानने का साधन भी बताया जाता है। एक तरह से, आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों

ने माना है कि दृश्य-शिक्षा[१] बच्चों के लिए अच्छी होती है; केवल आधुनिक शिक्षा में दृश्य-क्षेत्र का बोध इंद्रिय द्वारा होता है। आध्यात्मिक अनुभूति में, असली दृश्य-क्षेत्र ध्यान या अतीन्द्रिय बोध का क्षेत्र है। पर यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें आध्यात्मिक जीवन के और परम सत्य के सच्चे जिज्ञासुओं को छोड़ कर औरों का प्रवेश नहीं है। जिसमें आध्यात्मिक जीवन और अपने जीवन के परम सत्य की अनुभूति की आकांक्षा नहीं है, वे इस मार्ग की ओर शायद ही मुड़ सकें। जिन्होंने दुराचरण का त्याग नहीं कर दिया है—न विरतो दुश्चरित्रात्, जैसा उपनिषदों ने कहा है—उन्हें यह मार्ग अपने यथार्थ रूप में नहीं दिख सकता है, न इस पर वे आरूढ़ हो सकते हैं। सहज मार्ग का लक्ष्य है अभ्यासी को सीधे इस आध्यात्मिक दृश्य-क्षेत्र में स्थापित करना, फिर देखने और जानने की शक्तियों को विकसित करना और तब आध्यात्मिक अनन्तता के उच्च स्तरों और ऊँचाइयों तक पहुँचाना। मन एवं इन्द्रियों के मानसिक एवं संवेदी क्षेत्रों के विपरीत, आध्यात्मिक प्राणी एवं जीवन की विशिष्टता है अनन्त प्रकृति।

सहज मार्ग आध्यात्मिक प्राणाहुति[२] की विधि का प्रयोग करता है, जिसका आशय है अभ्यासी के मानसिक और भौतिक

---

१. Visual education २. Transmission

दैहिक जीवन के उद्घाटित क्षेत्रों में आध्यात्मिक अतिचेतन शक्ति को प्रवाहित करना। यह अभ्यासी के जैविक अस्तित्व को केन्द्रीय सत्ता से जोड़ कर किया जाता है। यह व्यक्ति की अपनी मानसिक क्रिया, संकल्प या इच्छा द्वारा, चाहे वह कितनी ही दृढ़ हो, नहीं किया जा सकता। अध्ययन, प्रगाढ़ चिन्तन या संश्लेषण और विश्लेषण-परक कोई भी बौद्धिक अभ्यास इसमें सहायक नहीं हो पाता। परम सत्ता की शक्ति या अनुग्रह ही काम आता है। यह गुरु का काम है। यह सच है कि कुछ चिन्तकों के अनुसार गुरु सहायक न होकर बाधक होते हैं। पर यह ऐसे गुरुओं के संग में मिले अनुभवों का सामान्यीकरण है जिनमें प्राणाहुति की, यानी परम सत्ता से जोड़ने की, यह क्षमता शायद ही होती है। निम्न क्षमता वाले गुरु केवल दार्शनिक या बौद्धिक व्यक्ति या भावप्रवण भक्त होते हैं जिनसे केवल बौद्धिक या भावनात्मक सन्तोष मिलता है, या बहुत हुआ तो वे दूसरों को और खुद अपने को ठगने वाले, चमत्कार दिखाने वाले, ऐन्द्रजालिक होते हैं।

केन्द्रीय सत्य[1] की सीधी राह पकड़ने से ही साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है। साक्षात्कार का महत्व एक अलग ही ढंग से समझना होगा। परम सत्य की अनुभूति को समझने की शिक्षा उससे भिन्न है जो वैज्ञानिकों को छान-बीन में दी जाती

१. Central Reality

है। इसमें अनुभूति का विषय सूक्ष्म होता है और इन्द्रियों द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता, जिस तरह दूरबीन और खुर्दबीन से किया जाता है, चाहे वे कितना भी बड़ा कर सकें। यह समझ जाने पर व्यक्ति में नई संवेदनशीलता या बोध का उदय होता है जो उसकी स्थूल शारीरिक क्रियाओं से कहीं ऊपर होता है। इस तरह सहज मार्ग इस विशाल मानव-क्षेत्र का द्वार खोल देता है जिसे किसी भी असाधारण[१] विधि से नहीं जाना जा सकता। तभी यह कहा जाता है कि यहाँ केवल अध्यात्म से अर्थात् आत्मनिष्ठ[२] आध्यात्मिक जीवन बिताने से, या साक्षात्कार से प्रवेश मिलता है। साक्षात्कार जो संवेदना और मानस-प्रवर्गों से बल्कि संकल्प और बुद्धि से भी भिन्न है क्योंकि यह सब ज्ञान के निम्न कोटि के साधन हैं। आत्मा को सत्य की सीधी झलक मिलती है— अपने आत्मनिष्ठ जगत और प्रकृति के वस्तुनिष्ठ जगत, दोनों की। यही साक्षात्कार है जो द्रष्टा (साक्षी) को सीधी झलक द्वारा प्राप्त होता है। साधारणतः इस साक्षी शब्द का अर्थ है मात्र एक गवाह, प्रकृति या सत्य के प्रपंच[३] का मात्र एक निष्क्रिय द्रष्टा। पर सक्रिय अर्थ में एक वास्तविक सक्रियता रहती है, स्वतन्त्र, अबद्ध, अबंधनकारी या स्वयं में प्रतिक्रिया-हीन क्रिया, जो आध्यात्मिक होती है। जिसे यह स्पर्श करती है, उसे मुक्त कर देती है और इसे क्रियाशून्य सक्रियता मानते

१. Para-normal २. Subjective ३. Phenomenon

हैं। यही शान्ति है, 'शान्ताकार' का अनुभव है, जिसे तनिक भी विचलित नहीं किया जा सकता क्योंकि वही सबका आधार है। योग में यही पहला कदम भी है और अंतिम भी। यही ईश्वर का पहला स्पर्श है। यही प्रथम दर्शन या बोध है। इस तरह दर्शन शान्ति के अधिकाधिक बोध की ओर ले जाता है, जो शांति समझ ओर विश्लेषण की पहुँच से परे है और जिसमें अपनी समग्र विशालता के साथ वास्तविकता की उच्चतर और मूलभूत अनुभूति होती है।

मनुष्य का जगत सीमित पिंड का जगत है। वह मनुष्य को सीमित कर देता है—क्योंकि मनुष्य को उसका बोध है जो कहीं अधिक विशाल है और जो इन्द्रियों के अनुभव वाले इस छोटे से जगत से परे है। उसी वृहत्तर जगत की वह लालसा करता है। इसी बोध के कारण खीझ और बंधन का भाव होता है और इस अनिवार्यता से छुटकारा मिलता है। इस विशाल के बोध के लिए उसे एक नई क्षमता या शक्ति जागृत करनी पड़ती है या एक नई इन्द्रिय निर्मित करनी पड़ती है। विकास क्रम में इन्द्रियों से बढ़ कर प्राण हुआ और प्राण के आगे मन। मनुष्य में इस मन से भी आगे अपनी विशिष्टता[१] को जान लेने की उच्च लालसा होती है। इसे ही अहंकार और बुद्धि, या उचित, सत्य और शुभ का शुद्ध अवैयक्तिक बोध कहते हैं। हमारा लक्ष्य इसके

१. Individuality

परे है। इस तरह हम बुद्धि के विस्तृत लोकों (ब्रह्मांड) के परे जाकर सत्य के केंद्रीय क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। वहीं पर सही अर्थ में सच्ची स्वतन्त्रता है, क्योंकि वहाँ अज्ञान की क्रीडा नहीं है जो वाह्य आकृतियों और रूपों की सीमाबद्धता के कारण होती है, बल्कि वहाँ आत्मपरकता[१] से भी परे जाना होता है। इस साक्षात्कार तक कोई दार्शनिक मार्ग नहीं पहुँचा सका है। हाँ, वेदान्त ने पारगमन की राह सुझायी है और यह दावा किया है कि यह विशाल है और आन्तरिक अनुभूति के अतिरिक्त न पूर्णतः जाना जा सकता है न बताया जा सकता है। वस्तुतः यह कुछ ऐसा है जो केवल वही होकर जाना जा सकता है, अनुभव से नहीं। उपनिषद् ठीक ही कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है। परन्तु जो दर्शन-मार्ग वहाँ तक पहुँचा सकता है वह केवल विचार नहीं है बल्कि ऐसा विचार जो निज को उलाँघ कर कारण तक पहुँच जाता है— उपनिषदों के कथनानुसार : कारणं तु ध्येयः। सहज मार्ग केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं है, वह तो यह है ही नहीं। यह केवल स्व-निवेदन और स्व-समर्पण द्वारा ईश्वर और उसकी वास्तविकता तक सीधे पहुँचने की व्यावहारिक क्रिया है। जिसके कारण सब कुछ का मूल्य और सार्थकता है, उस केन्द्रीय सत्य तक पहुँचने के लिए इस मार्ग में ईश्वर-चेतना को छोड़ कर

१. Subjectivity

और किसी साधन को नहीं अपनाया जाता। शास्त्रों, विचारों और संवेदनाओं के माध्यम से न होकर यह एक सीधी क्रिया है और जैसे ही कोई गुरु के द्वारा स्वीकार किया जाता है, वैसे ही तुरन्त वह सत्य के इस पवित्र लोक में प्रवेश पा जाता है। दीक्षा के द्वारा गुरु की देख-रेख में होने वाली एक प्रक्रिया-शृङ्खला आरम्भ हो जाती है। गुरु अभ्यासी को पदार्थ, प्राण, मन अहंकार, बुद्धि के विविध स्तरों से, खुद अपने में एवं प्रकृति के बाह्य रूप में, पार करवा देता है। अन्ततः अभ्यासी अनुभव करता है कि विशाल प्रकृति और जीवात्माएँ केन्द्र द्वारा आधारित हो कर केन्द्रीय सत्य में स्थित हैं। एक अर्थ में केन्द्र शून्य है, पर दूसरे अर्थ में आगत, वर्तमान और आगामी समस्त भूतों की योनि (भूमा) है।

एक अर्थ में सहज मार्ग केवल एक दर्शन-पद्धति नहीं है अर्थात् एक विचार-धारा या दर्शन या प्रणाली जिसका लक्ष्य हो सत्य तक बुद्धि या भावात्मक बुद्धि से पहुँचना या सत्य की व्याख्या करना, बल्कि यह तो अतिचेतना द्वारा स्वयं सत्य की सिद्धि है। मनुष्य की उस आकांक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश की इसी में परिणति होती है—जो ईश्वरत्व को बूझ लेने, पूर्णता की उपलब्धि, यथार्थ मुक्तकारिणी आध्यात्मिक स्वतंत्रता और गूढ़ अमरता की प्राप्ति की ओर उन्मुख करती है। इस अनुभूति और उपलब्धि के आधार पर एक महत्तर जीवन का

निर्माण होता है। उसे चाहे दिव्य जीवन कहें, चाहे अतिमानव का विकास, चाहे अनन्त-विस्तार-मय विशुद्ध आनन्द से युक्त अनन्त की उपलब्धि। सहज मार्ग का प्रारम्भ आनन्द से होता है और वह अधिकाधिक आनन्द—अनन्तानंद—की ओर निरन्तर बढ़ता चला जाता है।

सहज मार्ग की सर्वाधिक उपयोगिता गुरु द्वारा अभ्यासी के हृदय में संप्रेषित सर्वोच्च चेतना के रूप में दी गयी सक्रिय सहायता है। वही अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने तक आत्मा को राह दिखाती है और रास्ते भर उसकी गति को बल देती है। इस तरह स्वयं केन्द्र की अतिचेतना द्वारा आन्तरिक आकांक्षा या आरोहण जागृत या विस्फुटित होकर पूर्णतर और निरन्तर गति का रूप ले लेती है। अवरोही अनुग्रह और आरोही आकांक्षा दोनों, गुरु-प्रदत्त एक अकेली दिव्य शक्ति के दो छोर हैं। इससे योग-साधना सरल और शीघ्र हो जाती है और उच्चतर विकास और उपलब्धि में लगने वाला समय कम हो जाता है। यह श्री रामचन्द्रजी की विलक्षण खोज है। इस तरह सहज मार्ग ईश्वर द्वारा, ईश्वर के लिए, ईश्वर में प्राकृतिक जीवन को प्राप्त कराने वाला सरलतम और क्षिप्रतम साधन है।

श्री राजगृह
तिरुपति (दक्षिण भारत)

के० सी० वरदाचारी
एम० ए०, पी-एच० डी०

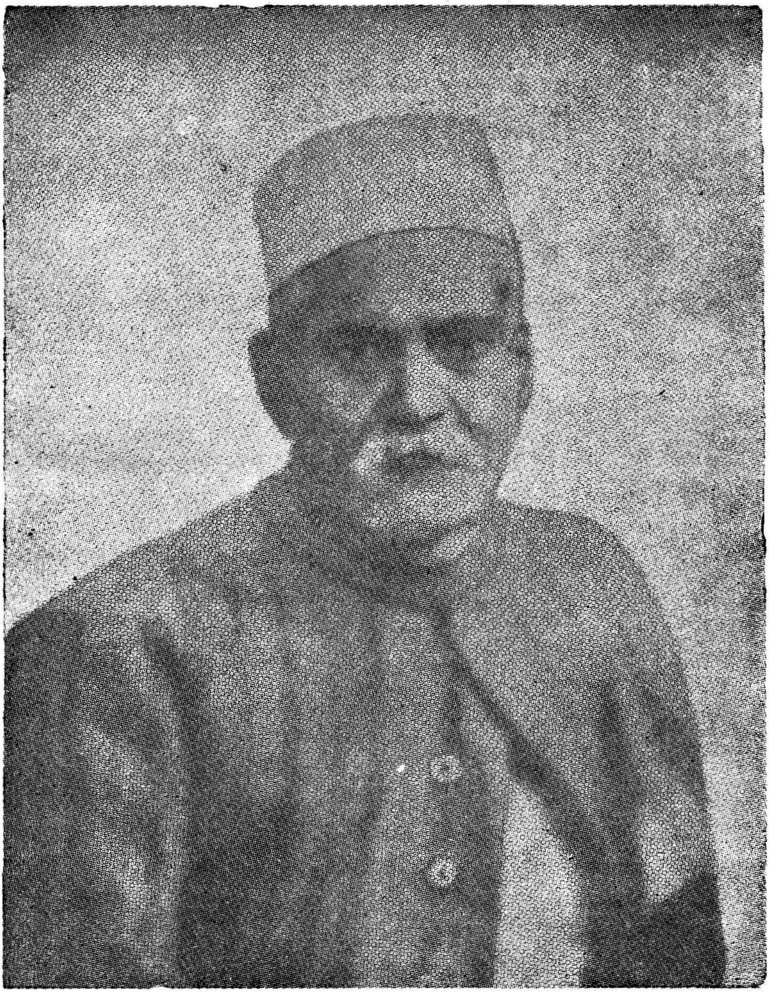

श्री ईश्वर सहाय
लेखक

विषय-प्रवेश

जीवन के सच्चे मूल्यों के त्रुटिपूर्ण ज्ञान के कारण मानव-जीवन आज प्रायः एक दम उद्भ्रान्त हो गया है। प्रायः हर कोई किसी न किसी रूप में शान्ति, सुख, और आनन्द के लिए लालायित है पर इसके लिए जिन साधनों को वह काम में लाता है वे उसे ठीक विपरीत दिशा में ले जाते हैं। वह ईश्वर की आराधना करना चाहता है पर हो जाता है अन्ततः भौतिकता का पुजारी। वह अध्यात्म की राह पकड़ना चाहता है पर फँस जाता है भौतिकता के पाश में। वह सूक्ष्मता को विकसित करना चाहता है पर स्थूलता को संचित करता जाता है।

ऐसा क्यों है? स्पष्टतः यह इन्द्रिय-भोगों की हमारी लालसा के कारण है। जोवन भर मनुष्य की नजर के आगे केवल उसका भौतिक रूप रहता है। इसलिए उसके सारे क्रिया-कलापों में शारीरिक चेतना सर्वप्रधान रहती है। जो कुछ भी वह करता है उसमें किसी न किसी तरह के सुख की तलाश में रहता है। वह ऐसा कुछ भी अंगीकार करना, हाथ में लेना या समझना नहीं चाहता जो उसे प्रत्याशित सुख प्रदान करता नहीं दिखता। सम्भवतः उसी एक आकर्षण-वश वह

पूजन, भजन या अन्य साधना करता है। उसके लिए शान्ति का अर्थ है भौतिक कामनाओं की पूर्ति और पूजन, भजन, धर्म, और अन्य सब उस आनन्द या परितृप्ति का कारण, जिसे साधारणतः भौतिक सुख ही माना जाता है। इस तरह, यह सब, अध्यात्म से बिल्कुल हट कर, केवल भौतिकता का अनुसरण है। इसीलिए हमें अन्त में विपरीत परिणामों का सामना करना पड़ता है। मेरे गुरुदेव के शब्दों में, "लोग ईश्वर का इन्द्रियों द्वारा अनुभव करना चाहते हैं, जो असंभव है।"

इसलिए हमें यह बात पूरी तरह समझ लेनी चाहिए कि सच्ची शांति या तृप्ति पाने के लिए हमें इन्द्रिय-भोग-लालसा से ऊपर उठना होगा। शुरू से ध्यान में रखने की यही प्रधान बात है। इसलिए अभ्यासी को पक्का विश्वास होना चाहिए कि जो साधन मैंने अपनाये हैं वे सचमुच मुझे उधर ले जा रहे हैं और मेरे मन की वृत्तियाँ धीरे धीरे शांत हो रही हैं। पाठकों के लाभार्थ, सहज मार्ग की सरलतम विधि द्वारा आध्यात्म-जगत के अंतरतम प्रदेशों की राह दिखाना, इस पुस्तक का उद्देश्य है।

अध्याय १

संसार जैसा अभी है

वर्तमान रूप

आज संसार युगों पूर्व जैसा नहीं है। ज्ञान और अनुभव के विकास का हमारे रहन-सहन के ढंग को सुधारने में बहुत योगदान रहा है। मनुष्य आज जल, स्थल, और आकाश की प्राकृतिक शक्तियों को जीत लेने का दावा करता है। अन्तरिक्ष भी अछूता न रहा, जिसका शोषण चल रहा है, प्रतीयमान सफलता के साथ। इस अवस्था में भी, उसका अन्त नहीं है। आशान्वित संसार के सामने वैज्ञानिक अधिकाधिक चमत्कार उपस्थित करने में लगे हुये हैं। इस अर्थ में हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक अच्छा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। संसाधनों पर हमारा पहले से अधिक प्रभुत्व है, उनका हम अपने अधिकतम लाभ के लिए उपयोग कर सकते हैं।

यह चित्र का एक पक्ष है। पर जब हम दूसरे पक्ष की ओर

पलटते हैं, तो हम वहाँ क्या देखते हैं ? प्रायः सर्वत्र वास्तविक शान्ति और सुख का अभाव हैं, भय और चिन्ता हर किसी के मन को विचलित किये हुये हैं और दुर्व्यवस्था का हर कहीं बोलबाला है। युद्ध, रक्तपात और विध्वंस को लेकर आतंक भरी दुश्चिन्तायें प्रतिक्षण हर किसी के मन में घुमड़ती रहती हैं। इस सबका कारण क्या है ? इसका सीधा कारण है निरे भौतिकवाद की अनियंत्रित वृद्धि। इसी ने मनुष्य को प्रकृति से अलग कर बहुत दूर फेंक दिया है। मानव-जीवन प्रायः पूर्णतः बनावटी हो गया है। इसके लिए नैतिक और धार्मिक दायित्वों से कोई सरोकार न रखने वाली, वर्तमान सभ्यता की अनैतिक प्रवृत्ति उत्तरदायी है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में, स्वार्थ की प्रधानता है चाहे वह व्यक्ति का हो, चाहे किसी वर्ग का या राष्ट्र का। दिव्यता लोगों के मन से उतर गयी है। ईश्वर सामान्यतः फालतू माना जाने लगा है, जिसका उपयोग केवल दुर्बल लोगों को संकट की घड़ी में ढाढस बँधाने में है। मानव-मन का झुकाव अधिकतर असत् की ओर होता है। कूटनीति को खूबी माना जाता है, पाखंड को कला, स्वार्थ को देशभक्ति और दंभ और दिखावे को आधुनिक जीवन की आवश्यकताएँ। प्रभुत्व और शोषण की भावनाओं से प्रदूषित विज्ञान की उपलब्धियों ने मनुष्य के मन में संहारात्मक प्रवृत्तियों की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है। इस सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचना गलत न होगा कि

संसार उस प्रलय की ओर लपका जा रहा है, जो ऐसी दशा में प्रकृति के पास अन्तिम[1] उपाय के रूप में रहता है।

सांसरिक शान्ति

संसार के इस चित्र को दृष्टि में रखते हुए यह निर्णय करना कठिन है कि संसार प्रगति के पथ पर है या अधोगति के पथ पर। सांसारिक मन के लिए तो यह मजे की प्रगति हो सकती है पर

---

१. प्रकृति की शक्ति में, जो ग्रंथि-रूपाकार मूल निधान से प्रवाहित होती है, निर्माण और विनाश दोनों की क्षमता होती है। भारत के मनीषियों ने निर्माण-शक्ति का सदा मानव के सुधार के लिए उपयोग किया है। संहारात्मक शक्ति भी, जो विपुलता में विद्यमान है, इतनी प्रबल होती है कि अणुबम उसकी जोड़ में नहीं टिकता। इस समय, यह शक्ति भी वर्तमान संसार की जगह एक नया संसार बसाने में, काम में लायी जा रही है। आध्यात्मिक नवजागरण का प्रारम्भ हो चुका है और इसके द्वारा भारत संसार का फिर नेतृत्व करेगा, समय चाहे जितना ही लगे। संसार शीघ्र ही यह अनुभव कर लेगा कि अध्यात्म का आधार के रूप में अपनाये बिना धरती का कोई राष्ट्र बच नहीं सकेगा। कूटनीति और दाँव पेंच का युग अब बहुत तेजी से बीता जा रहा है और वर्तमान शताब्दी के अन्त तक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का घटित होना अनिवार्य है। हर किसी को, जो उसके भाग्य में है उसका प्रसन्नमन से स्वागत करना चाहिए और अध्यात्म के मार्ग को, मात्र जिसके द्वारा उसका कुशल-क्षेम निश्चित हो सकता है, अपना लेना चाहिए।

('गुरु संदेश' से अनुवादित)

जब हम दूसरे पक्ष की ओर देखते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि संसार विकट दुर्दशा, बेचैनी और निराशा के बोझ से दबा हुआ है। इस तरह इसे मुश्किल से प्रगति की अवस्था माना जा सकता है। आज संसार शान्ति के लिए फूट-फूट कर रो रहा है और यही वह समस्या है जिसका कारगर हल निकालने में सर्वश्रेष्ठ दिमाग लगे हुये हैं। इसके लिए संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन युद्ध टालने को एड़ी चोटी का जोर लगा रहे हैं जिससे स्थायी आधार पर शान्ति की स्थापना हो सके। लेकिन उनके प्रयत्न कहाँ तक सफल हो पाये हैं, इसका निर्णय तो आगे होगा। वे भले युद्ध को समय समय पर—और वह भी कहीं कहीं ही—टाल देने का दावा करते हों, पर वे सामान्य स्थिति में इतना सुधार नहीं ला पाये हैं कि शान्ति और सुरक्षा का वातावरण बन गया हो। युद्ध की आशंकायें हर कहीं प्रत्यक्ष हैं और जब तक वे विद्यमान हैं, सच्चे अर्थ में शान्ति केवल मनचाहा स्वप्न है। "युद्ध का अभाव" के अर्थ में सामान्यतः समझी जाने वाली शान्ति निश्चयतः समाधान की ओर गलत राह है। यह बिल्कुल संभव है कि सचमुच लड़ाई न छिड़ी हो पर सच्चे अर्थ में संसार में शान्ति न हो। लोगों पर युद्ध का, चाहे क्रियागत रूप में चाहे विचारगत रूप में, समान व्यथाकारी प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सच्ची शान्ति की उपलब्धि के लिए युद्ध विचार तक से

निष्कासित कर दिया जाय और सद्भाव, सुरक्षा और सन्तोष का वातावरण सर्वत्र व्याप्त हो।

पर यह कैसे सम्भव हो सकता है? निश्चयत: केवल प्रशमन, तुष्टीकरण और मध्यस्थता द्वारा शान्ति नहीं लाई जा सकती। बुराई का मूल कारण हमारा अपने खुद से बेहद चिपकाव है, चाहे व्यक्ति के रूप में चाहे समूह, राष्ट्र या वंश के रूप में। स्वार्थ जीवन के हर पहलू में प्रधान रहता है और हम मित्रता और सहानुभूति के झूठे दिखावे जैसी धूर्ततापूर्ण युक्तियों से अपने पड़ोसी का शोषण करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। विश्व की सभी घटनाओं में जिनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है उन बहु-प्रशंसित कूटनीति और राजनीतिमत्ता से अविश्वास, भय, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का वातावरण निर्मित होता है।

सत्ता के लिए दौड़

सत्ता के लिए दौड़ अपनी पूरी तेजी से चालू है। प्रत्येक राष्ट्र अपने को युद्ध के भीषणतम अस्त्रों से सज्जित करना चाहता है। विज्ञान की विस्मयकारी उपलब्धियों के फलस्वरूप बहुत से ऐसे अस्त्र बन चुके हैं और अन्य बहुत से आगे बनने वाले हैं। विपुल युद्ध सामग्री हाथ में रखने वाली विश्व की महान् शक्तियों से दुर्बल राष्ट्रों को डर लगता है और प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों को ईर्ष्या। ऐसे प्रतिस्पर्धी राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को समझौतों

और सन्धियों द्वारा अपने पक्ष में मिलाने और आत्मरक्षार्थ सैनिक सहायता के बहाने उन्हें आधुनिक शस्त्रों से सज्जित करने का प्रयत्न करते हैं। क्या यह सब शान्ति के लिए है या अपनी स्वार्थपूर्ण बुरी योजनाओं के लिए, इसका संसार निर्णय करे। शान्ति के लिए स्थापित विशाल संगठन भी अपनी चालों में लगे हुये हैं। उनके क्रिया-कलाप निष्पक्ष व्यवहार पर कम और कूटनीति पर अधिक आधारित है।

संक्षेप में, आज का संसार प्रतिस्पर्धी शिविरों में बँटा है, जो अस्त्र-शस्त्रों से भरपूर और क्षण भर में युद्ध प्रारम्भ करने को तत्पर हैं। सारे विश्व को आग में झोंकने के लिए आज किसी भी समय कदाचित् एक दियासलाई की तीली पर्याप्त है। स्थायी आधार पर विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है हर एक मन से अविश्वास और भय की भावना का पूर्ण निराकरण। इसी भावना से शान्ति को भंग करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि मात्र स्वार्थ पर आधारित सत्ता के लिए वर्तमान दौड़ बंद कर दी जाय तो अशान्ति के कारण बहुत कम हो जाँय। कूटनीति और राजनीतिमत्ता का स्थान विश्वव्यापी प्रेम को मिलना चाहिए और हमें मनुष्य-मनुष्य के बीच सामान्य भाईचारे को पूरी तरह स्वीकार करना चाहिए और अपने सारे कामों और व्यवहार

पर उसे लागू करना चाहिए। तभी शान्ति-स्थापना के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण हो सकता है।[1]

समस्या

मानव जाति व्यक्तियों से मिल कर बनी है। व्यक्ति से मानव जाति का निर्माण होता है, मानव जाति से व्यक्ति का नहीं। इसलिए समष्टि रूप में संसार के सामने खड़ी समस्या वस्तुतः संसार की नहीं, बल्कि व्यक्ति की समस्या है। इसलिए विश्व-शान्ति जमात, जाति या राष्ट्र से जुड़ा प्रश्न होने के अतिरिक्त, वास्तव में हर आदमी की व्यक्तिगत समस्या है। यदि मनुष्य मन की शान्ति अपने अन्दर पैदा कर लेता है तो निश्चयतः शान्ति चारों ओर छा जाती है। जब तक प्रत्येक मन में शान्ति न हो, कोई शान्ति सम्भव नहीं। इसके लिए मनुष्य को खुद अपने अन्दर, मन की शान्ति को विकसित करने के साधनों को अपनाना पड़ेगा। सामान्यतः इस आन्तरिक शान्ति की कमी का कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

---

१. विश्वव्यापी भाईचारे की भावना के विकास का अर्थ है एक दूसरे से विलग करने वाले व्यष्टि के जाल को तोड़ना और भ्रातृ-भाव-सम्बन्ध से गहरा लगाव। स्वभावतः यह मानसिक साहचर्य और ज्यादा लगाव की ओर ले जायेगा जिससे हर किसी के मन में अधिक शान्ति और सन्तोष को स्थान मिलेगा।

(सहज मार्ग के दस नियमों की व्याख्या)

परिस्थितियों का प्रभाव बताया जाता है। एक सीमा तक यह ठीक हो सकता है, पर उनके लिए अन्ततः कौन उत्तरदायी है? निश्चयतः व्यक्ति स्वयं, चाहे एक व्यक्ति या दूसरा। विश्व चित्र में आने वाला हर कुछ मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाओं का परिणाम है। इसलिए विश्व में शान्ति का वातावरण निर्मित करने के लिए व्यक्ति को स्वयं अपने को ही सुधारना और सही करना है।

शान्ति की गलत धारणा

दुर्भाग्यवश शान्ति के सच्चे अर्थ के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ हैं। साधारणतः इसको उस भौतिक सुख की भावना से जोड़ा जाता है, जिसके वाह्य भौतिक स्रोतों से अपने पास आने की, हर किसी को आशा रहती है। यदि किसी का मनचाहा अधिकतर उसे मिल जाय या उसकी परिस्थितियाँ और वातावरण उसकी कामनाओं और अभिलाषाओं के अनुरूप बन जाँय, तो वह समझता है कि मैं सुखी हूँ क्योंकि वह मानने लगता है कि मुझे मानसिक शान्ति उपलब्ध है, क्योंकि कुछ समय के लिए वह अपने को चिन्तामुक्त पाता है। इस प्रकार उसकी मानसिक शान्ति भौतिक सुख पर और सुख कामनाओं और अभिलाषाओं की पूर्ति पर अवलम्बित रहते हैं। निश्चयतः यह बड़ा अपरिष्कृत दृष्टिकोण है जिसके रहते मनुष्य का भ्रम में फँसे रहना अनिवार्य है। वस्तुतः बहुधा यह देखा गया है

कि जिनको भौतिक सुख के सारे साधन उपलब्ध हैं उनको ही अन्य कई तरह से मानसिक शान्ति की भारी कमी रहती है। हर्ष और आनन्द हृदय की आन्तरिक भावनाओं के ऐन्द्रिक प्रतिबिंब हैं। लेकिन लोग भूल से इन्हें ही शान्ति का चिह्न मान लेते हैं और अन्य सब कुछ भूल जाने का प्रयत्न करते हैं। यह धारणा सच्ची शान्ति के, जो आत्मा को विशिष्टता-सूचक है, विपरीत है। इसलिए शान्ति को हर्ष की भौतिक भावना से जोड़ना, गलत होगा। इसके अतिरिक्त, भोग-कामनाओं का कभी अंत नहीं होता। जितनी उनकी पूर्ति की जाय उतनी ही वे उठती हैं। इसका अर्थ है कि अततः उन्हें अतृप्त रहना ही है। इस प्रकार कामनायें जो प्रारभिक क्रम में अपनी पूर्ति होने पर सुख का कारण लगती हैं अंततः विभ्रांति और निराशा का कारण बन जाती हैं और इनसे शान्ति भंग हो जाती है। इसके अतिरिक्त हमारी स्वार्थपूर्ण कामनायें दूसरों के न्याय्य हित के विरोध में हमें ला खड़ा करती हैं, जिसका अंत मनमुटाव और प्रतिस्पर्धा में होता है। इनकी परिणति मानसिक शान्ति के विघटन में होती है।

उदात्त आदर्श

इसलिए हमें यह समझ लेना है कि हमें शान्ति वास्तव में उत्तरोत्तर वर्धमान कामनाओं की पूर्ति से नहीं, बल्कि सबके हितों को समाहित करने वाले और अपनी चिन्ता को आवश्य-

कता-सीमा तक घटा देने वाले उदात्त आदर्श से, मिल सकती है। इसलिए मिशन का उदात्त आदर्श मनुष्य को, हर किसी को 'अपना सगा मानते हुये, उसका उचित पावना उसे देने को', प्रेरित करता है। यह एक सार्वजनीन सिद्धान्त है। यदि अकेले इसका सच्चे अर्थ में पालन किया जाय तो यह संसार की विकटतम समस्याओं को सुलझाने के लिए पर्याप्त होगा। इसका अर्थ स्वार्थी व्यक्ति या समूह के अतिक्रमणों और उनके मनमाने कामों के आगे निष्क्रिय समर्पण नहीं है। "उचित पावना" हर मामले में, एक ही ढंग से, लागू होता है। उत्पीड़ित के लिए यह सही क्षति-पूर्ति और स्वत्व तथा विशेष अधिकारों की पुन: प्राप्ति है, जब कि उत्पीड़क के लिए यह यथोचित दमन और दंड है। जहाँ आवश्यक हो वहाँ जोरदार विरोध की मनाही नहीं है। हर कीमत पर अपने उचित अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए और इनके अतिक्रमण को पूरे बल से रोकना चाहिए। लेकिन यह सब मैत्री और स्नेह भाव से करना चाहिए, बैर और द्वेष-वृत्ति से नहीं, जैसे हम अपने प्रिय जनों पर एक अपनत्व-भाव से कृपादृष्टि रखते या त्यौरी चढ़ाते हैं।

व्यक्तिगत दायित्व

तो इसके लिए हमें क्या करना है? स्पष्टतः इस प्रयोजन के लिए प्रवचन देने या संगठन बनाने से विश्व में शान्ति नहीं आ सकती। वह तो केवल असंतुलित व्यक्तिगत मनोभावों को

जो स्वार्थ की ओर निदेशित होते हैं—जैसा कि मानव-जीवन के सभी पक्षों का लक्षण है—दोषरहित करने से आयेगी। प्राय: हर किसी को, दूसरों के शोषण तक की सीमा वाले आत्म-हित में, विशेष दिलचस्पी है। ऐसी परिस्थिति में हितों का संघर्ष अनिवार्य है जिसका परिणाम होगा अशान्ति की दशा। यह मूल-समस्या है। इसके समाधान के लिए यदि हम केवल कुछ शीर्षस्थ लोगों पर निर्भर रहेंगे तो हमें निश्चयत: असफलता मिलेगी। इसलिए इस क्षेत्र में हर व्यक्ति को अपने हिस्से का काम ठीक तरह से करने के लिए पूरे मनोयोग से प्रयत्न करना पड़ेगा। हर व्यक्ति का हिस्सा क्या हो सकता है, इसे जान लेना कठिन नहीं होगा। यह अपने निज को सुधारना है। यदि हम अपनी भूलों और कमियों को नजरअंदाज करते रहेंगे और सारा दोष दूसरों पर थोपते रहेंगे तो सामान्य दशा में कोई सुधार होना संभव नहीं होगा। इसलिए सर्वप्रथम हमें अपने अहं को ही सुधारना और सही करना पड़ेगा।

लेकिन हमारे व्यक्तित्व में सुधारने को है क्या? यह हमारे मन की असंतुलित प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथोचित ढंग से सुव्यवस्थित और ठीक करना है। इसका मतलब होता है पहले ही कदम में मन का संयमन। यही वस्तुत: सारवस्तु और सारी समस्याओं का मूल-समाधान है। नियंत्रित मन हमारे जीवन की सभी दशाओं में संयमन लाता है और हमारे अन्दर

संतोष और समर्पण की भावना को बढ़ावा देता है। अक्सर लोग समर्पण को भाग्य के सम्मुख उद्यम की प्रवृत्ति के लिए हानिकर, निष्क्रिय समर्पण का एक रूप, मानते हैं। यह धारणा गलत है। सफलतापूर्ण प्रगति के लिए उद्यम की प्रवृत्ति निश्चयतः आवश्यक है और कर्त्तव्य-भाव से उसे हर हालत में कायम रखना है। पर फिर जो परिणाम आता है उसे सन्तोष और समर्पण भाव से स्वीकार करना चाहिए। यदि इन बातों को हम अपनी नित्य की चर्या में शामिल कर लेंगे तो हमारा जीवन, सारी स्थितियों और वातावरण में, सुसंगत हो जायेगा और हमारे अंदर शांति का राज्य होगा। इस तरह एक-एक व्यक्ति पर सारे संसार को बनाने का दायित्व है, उसी को इस तरह अपना रूपान्तरण करना है कि सुसंगत जीवन जीना सुनिश्चित हो जाय। पर यह सामान्यतः धर्म के क्षेत्र की बात मानी जाती है जिसके कारण कुछ लोग समझते हैं कि केवल धर्म के माध्यम से स्थायी आधार पर विश्व-शान्ति की स्थापना हो सकती है। पर यह सच से बहुत दूर है।

धर्म

चाहे शुरू में इस बात का सचेतन बोध न हो पर हर मनुष्य के मन में एक सर्वव्यापी पराशक्ति की मौन स्वीकृति रहती है। इस सुषुप्त भावना के प्रभाव-वश आत्मा उस कुछ के साक्षात्कार के लिए फड़फड़ाती रहती है, जिसे वह ठीक से

समझती नहीं। यह भावना बढ़ती जाती है। उसे जीवन में अनियंत्रणीय घटनाओं का अनुभव होता है, वह अतिमानवीय शक्तियों की रहस्यमयी गतिविधि के बारे में सुनता है और अपने चारो ओर के लोगों की धार्मिक प्रवृत्तियों को देखता है। सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में ईश्वर की धारणा का उसमें बीजारोपण हो जाता है। वह लोगों को विभिन्न धार्मिक वर्गों के सिद्धान्तों को मानते हुये, हजारों तरह से, उसकी पूजा करते पाता है। अपने अंत:करण की सहज प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए वह भी अपने जीवन से संबंधित उनमें से एक रास्ते को अपना लेता है। समय बीतने पर ये समूह संकीर्ण होते जाते हैं। इनमें केवल बाहरी दिखावा रह जाता है, मूल भावना लुप्त हो जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि क्यों, किसलिए—यह समझे बिना, लोग धर्म के बाड़ों में बंद और धर्म के केवल भौतिक रूप और पूर्वाग्रहों से चिपके हुये हैं। लक्ष्य, उद्देश्य और प्रयोजन के बिना किसी धारणा के, जीवन को केवल घुमचक्कर मानते हुये, स्थूलतम भौतिकता मात्र के धरातल पर परिक्रमण करते हुये, वे इसका साथ पूरी कड़ाई और रूढ़िवादिता में देते हैं।

भिन्न-भिन्न मंच

साधारणत: धर्म को ईश्वर की ओर ले जाने वाला मार्ग माना जाता है। पर दुनिया में अनेकों धर्म हैं। इसका अर्थ है

कि एक सर्वनिष्ठ केन्द्र की ओर ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं। हर धर्म का समर्थक दावा करता है कि केवल मेरा मार्ग (धर्म) सही है। अब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें से कौन धर्म सचमुच सही है। अधिकतर धर्म अपने महान संस्थापक के व्यावहारिक अनुभव पर आधारित होता है। पर व्यक्ति व्यक्ति के अनुभवों में, उनकी पहुँच के स्तर के अन्तर के कारण, विभिन्नता रहती है। इसलिए अपने अनुभवों के अनुरूप उनके उपदिष्ट और प्रचारित आदर्श भी भिन्न होते हैं। यह विविधता मुख्यतः ईश्वर की धारणा में होती है जो हर किसी की भिन्न और अपसारी[1] होती है। प्रायः सभी मानते हैं कि ईश्वर असीम है। पर मनुष्य की समझ के सीमित होने से, धारणायें विभिन्न होती हैं। इसलिए हर धर्म में, ईश्वर की अपनी अपनी धारणा के अनुसार अपना अपना आकर्षण-बिंदु होता है। इसलिए हर धर्म में उपास्य रूप में प्रतिष्ठित आदर्श एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न होते हैं। जब बात ऐसी है, तब सारे धर्मों का केन्द्र-बिन्दु एक नहीं माना जा सकता। इसलिए यह कहना गलत होगा कि सभी धर्म एक लक्ष्य—परात्पर—तक पहुँचाते हैं। लेकिन अधिक ध्यान देने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म कुछ सर्व-सामान्य दैवी सिद्धान्तों पर आधारित रहता है। यहाँ तक उनमें कोई भेद नहीं रहता।

---

१. Divergent

लेकिन प्रत्येक धर्म की अपनी अलग स्थिति कायम रखने के लिए उसमें कुछ औपचारिकताओं, अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों को जोड़ लेना आवश्यक हो जाता है जिससे उसे एक वाह्य निजी रूप प्राप्त हो जाय। इसलिए संसार के सामने एक पृथक इकाई या दल के रूप में उपस्थित करने के लिए, हर धर्म में कुछ प्रभेदक विशिष्टतायें होती हैं। इसलिए पूर्वाग्रह और अन्धविश्वास ही किसी धर्म के वाह्य अवरोध होते हैं। जड़ के मूलभूत सत्य की पूरी तरह अवहेलना करके लोग केवल उन्हीं से पूरी कट्टरता से चिपके रहते हैं। इसी कारण धर्म प्रतिस्पर्धी दलों के बीच कलह का कारण रहा है, जो कभी कभी युद्ध और रक्तपात[1] तक बढ़ जाता है।

---

१. हमने सच्चे धर्म को कब्र में दफना दिया है। अब हम धर्म के नाम पर ताली बजाने के अलावा और कुछ नहीं करते हैं। सच्चा भाव तो लुप्त हो गया है, उसकी जगह केवल औपचारिकतायें बची हैं। वाह्य रूप और कर्मकांड मात्र दृष्टि में आता है, जिनके बाद सत्य के न्यूनतम स्पर्श से रहित रूढ़िवादिता और दुराग्रह का अवतरण होता है। इस तरह सत्य पर हमारा अविश्वास घटता घटता समापन-बिन्दु तक पहुँच गया है। बल्कि यह विकृत होकर केवल कुछ रूपों और विधियों में रह गया है। धीरे धीरे यह विकृत होकर कट्टरपन और पूर्वाग्रह बन जाता है और दुर्भाग्यवश यही वर्तमान-कालिक धर्म का स्थायी लक्षण हो गया है। औपचारिकताओं पर हमारे अंधविश्वास ने हमें सत्य के विषय में अँधेरे में रक्खा है और अनजान में हम भिन्न रूपों और औपचारिकताओं को मानने वालों से घृणा करने लगते हैं। फलस्वरूप भिन्न धर्मों के अनुयायियों में झगड़े और ईर्ष्या उत्पन्न हो जाते हैं।

इस तरह धर्म, जिसे शुरू में मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाली कड़ी का काम करना था, अब इन संकीर्ण पूर्वाग्रहों के कारण, उन्हें एक दूसरे से और भगवान से भी विलग रखने का साधन बन गया है। इस अर्थ में धर्म मनुष्य की समस्या का कदाचित् ही समाधान हो।

सार्वजनीन धर्म

इस दृष्टि से, विरोध बचाने के लिए, सब धर्मों को मिला कर एक सार्वजनीन धर्म बनाने के विचार को महत्त्व दिया जा रहा है। पर इस तरह का यह पहला प्रयास नहीं है। पहले भी एतदर्थ प्रयास किये गये हैं पर उनमें कोई सफलता नहीं मिली। अकबर का दीन-इलाही इस तरह का संभवतः पहला प्रयास था। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य धर्म निर्धारित करने का प्रयत्न किया पर यह कभी चलन में नहीं आया और अकबर के साथ ही इसका भी अंत हो गया। आज के युग में भी इसी उद्देश्य से थियोसाफ़िकल सोसाइटी, फ्री मैसनरी इत्यादि विविध सभाओं का विकास हुआ। उनका आधार अन्ताराष्ट्रीय है और उनमें हर प्रमुख धर्म के खास-खास विचार शामिल हैं। पर, जैसा आज बिल्कुल स्पष्ट है, परिणाम हुआ एक नयी संस्था का निर्माण और धर्मों की लम्बी सूची में एक और की वृद्धि। व्यावहारिक अनुभव ने यह पर्याप्त रूपेण प्रमाणित कर दिया है कि जिस धर्म के कारण पहले युद्ध हुआ

करते थे अब वह वैसा नहीं रहा क्योंकि युद्धकर्त्ता अधिकांश राष्ट्र एक धर्म वाले होते हैं। स्पष्टतः आज अशान्ति के कारण न धार्मिक हैं न सामाजिक, वे केवल स्वार्थ पर आधारित, आर्थिक, हैं। इसके अतिरिक्त, सभी धर्मों के कुछ विचारों को मिला कर सब धर्मों के एकीकरण का परिणाम परम्परा आधारित एक नयी संस्था का निर्माण मात्र होगा। इस तरह तथाकथित सार्वजनीन धर्म केवल एक वर्ग को मान्य, एक परम्परागत धर्म से अधिक कुछ न होगा, जो धर्मों की सूची में एक की और वृद्धि करेगा। इस अर्थ में सार्वजनीन धर्म एक मखौल मात्र होगा। यदि सब धर्मों को मिला कर एक करना ही है, तो यह केवल दल-पद्धति को मिटा कर हर दल के अवरोधों को समाप्त करके ही हो सकता है। जब नाम, रूप और अन्धविश्वासों से संबद्ध सारे पूर्वाग्रह निकाल बाहर किये जाते हैं, तो प्रत्येक धर्म एक समान बिन्दु "परमपूर्ण," पर आ जाता है, जो मनुष्य का सार्वजनीन और सामान्य ध्येय है। इस तरह सच्चे अर्थ में सब धर्मों का एकीकरण सभी धर्मों का अन्त है। केवल इसी के द्वारा हमें पूर्वाग्रह के संकीर्ण पाशों से मुक्ति मिलेगी। समाधान तभी मिल सकता है जब कोई प्रेम के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उदारतम दृष्टिकोण को लेकर चले। यद्यपि प्रायः हर धर्म विश्वजनीन प्रेम और सामान्य बन्धुत्व को आदर्शों के रूप में घोषणा करता है, पर ये सिद्धान्त

मंच पर व्याख्याताओं के लिए भाषण के विषय मात्र हैं जिनकी व्यावहारिक जीवन में कोई सार्थकता नहीं है। इस प्रकार विश्व-व्यापी समस्या के समाधान होने के बजाय धर्म स्वयं में एक समस्या हो गया है।

इस अर्थ में शान्ति को प्राप्त करने में धर्म बिल्कुल ही सहायक नहीं हो सकता, सिवाय इसके कि वह इस ओर थोड़ी प्रेरणा दे सके। शान्ति और स्वतन्त्रता का असली रास्ता धर्म की पहुँच के परे हैं। इसलिए हमें धर्म के स्तर से ऊपर उठ कर अध्यात्म के क्षेत्र में, जो धार्मिक, सामाजिक और जातीय पूर्वाग्रहों के ऊपर है और जो सच्चे अर्थ में विश्वजनीन है, प्रवेश करना होगा।

—:o:—

अध्याय २

अस्तित्व की पहेली

(१) परम सत्य

केन्द्र

ब्रह्माण्ड के विस्तृत फैलाव को देखकर, जिसका भौतिक अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता, हम स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसका कोई कारण या उद्‌गम होगा। अब, समग्र ब्रह्माण्ड को सत्ता का एक विशाल वृत्त मानने पर, एक केन्द्र बिन्दु की उपस्थिति को युक्तितः नहीं नकारा जा सकता। तो ब्रह्माण्ड के इस भौतिक प्रकटन का केन्द्र क्या हो सकता है? निश्चयतः वस्तुओं का भौतिक अस्तित्व, सूक्ष्मरूप में पहिले से विद्यमान पदार्थ के रूप में कुछ परिवर्तनों का परिणाम है। इस तरह, व्यावहारिक दृष्टि से पहले वाला रूप कारण या उद्‌गम माना जा सकता है। स्वभावतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्माण्ड का तात्कालिक कारण, सूक्ष्मतर सत्ता का पूर्व रूप होना चाहिए। अब बिन्दु होने के नाते केन्द्र ज्यामितीय दृष्टि से आयामरहित होता है, पर स्वयं में कितना ही छोटा एक वृत्त भी होता है। इस तरह इसका भी, एक बिन्दु केन्द्र होगा, जो फिर अपनी बारी में एक और लघुतर वृत्त होगा।

इस प्रकार सूक्ष्म सत्ता का भी, जो स्थूल सत्ता का कारण है, एक सूक्ष्मतर सत्ता कारण होगी। इस तरह प्रत्येक केन्द्र का, जो अगली सृष्टि का कारण है, उसके स्वयं एक सूक्ष्मतर ब्रह्माण्ड होने के कारण, एक और अधिक सूक्ष्मतर सत्ता के रूप में एक केन्द्र होना चाहिए। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड की इस भौतिक सत्ता के पीछे, सत्ता के असंख्य रूप हैं जो असीमतः सूक्ष्मतर होते जाते हैं और अंत में शून्य बिन्दु या अनस्तित्व तक पहुँचते हैं। अब ब्रह्माण्ड के मूल कारण को, जिसे सब से दूर केन्द्र, शून्य बिन्दु या मूलभूत आधार मान लिया जाय, खोज निकालने में कोई कठिनाई नहीं होने की।

ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर है या नहीं इस विवाद को समाप्त करने के लिए परा सत्ता की सुदूरतम झलक काफी है। इस विषय में मैं अपने गुरुदेव का दृष्टिकोण नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :—

"ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर, मानव बुद्धि के उन्मेष से ही, काफी विवाद रहा है। मेरी समझ से, शाश्वत परा सत्ता के अस्तित्व या अनस्तित्व को सिद्ध करना असली समस्या नहीं है, वह तो है उसको पर्याप्त और सन्तोषजनक ढंग से परिभाषित करना।

हम निरीश्वरवादी के इस आधार से विचार प्रारम्भ करें

कि "ईश्वर नहीं है"। गणितीय शब्दावली में इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर का धनात्मक या ऋणात्मक कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता है। फिर भी इसे व्यक्त करने के लिए कोई चिह्न तो होना ही चाहिए। जिसका धनात्मक या ऋणात्मक कोई मूल्य नहीं होता, उसका गणितीय चिह्न होता है शून्य।

अब निरीश्वरवादी से पूछा जाय कि अस्तित्व है किसका। सुसंगत अज्ञेयवादी[1] प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व पर सन्देह कर सकता है, उसे नकार सकता है पर खुद अपने पर (अर्थात् सन्देह करने वाले और नकारने वाले पर) सन्देह नहीं कर सकता, न उसे नकार सकता है। इस खुद को एक अलग पहिचान के रूप में व्यक्त किया जाता है। गणितीय शब्दावली का फिर प्रयोग करें तो इसे सुविधा से 'एक' से व्यक्त किया जा सकता है।

अब शून्य की जादूभरी क्रिया को देखिये। जिसका अस्तित्व है यानी 'एक' या आप स्वयं, उसके दाहिनी ओर जितने शून्य बढ़ाते जायेंगे उतना ही वह बढ़ता और बहुगुणित होता जायगा। इस विस्तार की कोई निर्धारित सीमा नहीं है और उपनिषदों ने इस विस्तृत असीम को ठीक ही "महता महीयान्" की संज्ञा दी है। और इसको प्राप्त करने में, अपने ईश्वर यानी शून्य

---

१. Consistent Agnostic.

को अपने दाहिनी यानी धनात्मक ओर (सही तरफ) रखने के अतिरिक्त, आपने सचमुच कुछ नहीं किया है ।

अब, जिसका अस्तित्व है यानी 'एक' या आप स्वयं, उसके बाईं यानी ऋणात्मक (नकारात्मक) ओर शून्य लगाना शुरू कीजिए । नकारात्मक संकल्प-शक्ति की क्रिया यानी दशमलव बिन्दु के कारण, अधिकाधिक शून्यों के जोड़ने से 'एक' शून्य के अधिकाधिक निकट होता जायेगा । स्व या अहं के इस संकुचन की भी कोई सीमा नहीं हो सकती और उपनिषदों ने ठीक ही इसे "अणोरणीयान्" की संज्ञा दी है । असीमता के बिन्दु पर, निरीश्वरवादी की दृष्टि में जो है यानी स्वात्म या एक, और जो उसके मत से है ही नहीं यानी ईश्वर या शून्य दोनों के बीच का अन्तर प्रायः अकल्पनीय है । वह केवल नाम मात्र का है ।

इस तरह, मैं मानता हूँ कि ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर विवाद वस्तुतः झूठा है । यह उन भ्रान्त धारणाओं के कारण उत्पन्न होता है जो मनुष्यों के विविध सांस्कृतिक दलों के इतिहास-क्रम में, 'ईश्वर' शब्द पर लदती चली गयीं । विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों ने तरह-तरह की दुर्दशाओं और लालसाओं को जन्म दिया । उनसे उत्साह भरा अन्धविश्वास उत्पन्न और पुष्ट हुआ । उसने इस बीमारी को और बढ़ाया, भ्रान्तिमय बनाया । परिणामतः विवेक और विचारशील व्यक्ति

ईश्वर का नाम सुनते ही विरक्त हो जाता है। यह रवैया मनुष्य की अधोगति का उतना ही, या अधिक बड़ा कारण है जितना अन्धविश्वास, क्योंकि अन्धविश्वासों से मनुष्य को शक्ति और आश्वासन मिलते हैं, वे चाहे जितने भ्रान्तिकारी हों।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि समस्या की छानबीन आवेगपूर्ण रीति से न की जाय क्योंकि यह दृष्टि को धुँधली करती है और इस तरह मनुष्य की अपने ध्येय की ओर प्रगति में बाधा डालती है। विवेक और बुद्धि वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अवसर के अनुरूप भ्रान्तिपूर्ण धर्मसिद्धान्तों के भूसे से सच्चे अर्थ का सार-तत्त्व निकाल ले।"

विभिन्न धारणायें

अब चूँकि ईश्वर को शून्य या अनस्तित्व के रूप में परिकल्पना जनसाधारण की धारणा के परे है, अतः मनीषियों ने साधारण मनुष्य की स्थूलतर मनोवृत्ति से मेल खाने वाली ऐसी परिकल्पनायें उपस्थित करने की चेष्टा की है जो उसकी समझ में अधिक आयें। इसका परिणाम हुआ विविध रूपों में प्रस्तुत अनेकानेक मूर्त रूप—देवता, उप-देवता और प्रकृति की शक्तियों के मानव रूप। यही दृष्टिकोण जनसाधारण में सर्वाधिक प्रचलित है। पर जनसाधारण इसकी ओर सच्चे उद्देश्य—ईश्वर प्राप्ति—के लिए उतना नहीं उन्मुख है जितना अपनी भौतिक समस्याओं के समाधान के लिए।

इससे ऊँची, ईश्वर की साकार परिकल्पना है। उसके मनुष्य जैसी देह है—पर अधिक हाथों और अधिक सिरों जैसी अतिमानव विशेषताओं के साथ, जो मनुष्य से उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करती है। इस प्रकार ईश्वर केवल एक प्रवर मनुष्य है जिसके पास मनुष्य पर शासन करने के लिए सत्ता और शक्ति है। इससे अधिक परिष्कृत परिकल्पना एक दिव्य-शरीरधारी शक्तिमान प्राणी की हुई, जिसकी दिव्य देह का दर्शन केवल भक्तों को कभी-कभी मिल जाता था। इससे भी आगे हमारे सामने ईश्वर की परिकल्पना आती है एक सर्व-शक्तिमान प्राणी के रूप में जो एक बड़े जादूगर की तरह, अपनी अतिमानवीय इच्छा शक्ति के प्रयोग से प्रकृति की सारी वस्तुओं को प्रकाश में ले आता है। इस परिकल्पना की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है—एक तो त्रिमूर्ति (सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु और संहारकर्त्ता महेश) के रूप में और दूसरे ईश्वर के रूप में, जो कभी तो त्रिमूर्ति का पर्याय माना जाता है पर बहुधा उनसे थोड़ा उच्चतर प्राणी माना जाता है। इस अवस्था में उसे सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता जैसे सभी सर्वोत्कृष्ट सद्गुणों से संयुक्त माना जाता है। साधारणतः अधिकांश धर्मों की यही सीमा है। इसी कारण इसे धर्म के ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। हिन्दू दर्शन ऐसी निम्नस्तरीय धारणा तक ही अपने को सीमित नहीं रखता बल्कि और ऊँचा, अधिक परिष्कृत परिकल्पनाओं तक जाता है। गुणों से संयुक्त

(सगुण) ईश्वर की अवधारणा और परिष्कृत हो कर समस्त गुणों से रहित शाश्वत शक्ति का रूप ले लेती है। यह निर्गुण नाम से जानी जाती है। निस्सन्देह गुणों की सीमा से आवृत ईश्वर की तुलना में यह श्रेष्ठतर परिकल्पना है। पर इस स्थिति में भी यह चेतना, क्रियाशीलता और परमानन्द से जुड़ी रहती है। वस्तुतः सृष्टि के समय यही अवस्था थी। पर सृष्टि के अस्तित्व में आने के पूर्व की अवस्था में भी, जब प्रत्येक वस्तु पदार्थ, शक्ति, सक्रियता—घुल मिल कर एक सामान्य एकात्मता के रूप में थी, केन्द्र या आधार के रूप में ईश्वर का अस्तित्व पूरी तरह से भुलाया नहीं जा सकता। सूक्ष्मता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था के केन्द्र का उत्कृष्टतम होना—हर किसी वस्तु, चेतना, सक्षमता, परमानन्द तक से रहित होना, अनिवार्य है। वह संभवतः जो कुछ भी हो, शब्दों से परे है—शाश्वत, अनंत, असत्, जिसका वैदिक शब्दावली में 'नेति नेति' (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) कह कर बखान किया गया है। इस अन्तिम अस्तित्व रहित अवस्था को हमारे मिशन में भूमा' की संज्ञा दी गयी है, जो मानवीय खोज का अन्तिम ध्येय है।

(२) ब्रह्माण्ड

विकास

भिन्न विचारधारा वाले लोग अपने विश्वासों और दृढ़-धारणाओं के अनुसार सृष्टि का सिद्धान्त विभिन्न ढंग से समझाते

हैं। इसीलिए इस विस्तृत ब्रह्मांड की सृष्टि कैसे हुई यह प्रश्न विभिन्न सांस्कृतिक दलों में विवाद का विषय है। मूलतः ईश्वर की स्वैरिता[1] इसका कारण बताया जाता है। ईश्वर अपने को प्रकट करना चाहता था। इसलिए प्रत्येक वस्तु सहित सृष्टि का आविर्भाव हुआ। पर ईश्वर ऐसा चाहता ही क्यों था, इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। पर इसको ऐसा ही मानने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह दैवी संकल्प पर अवलम्बित केवल एक संयोग है। पर जिज्ञासु मन इससे संतुष्ट नहीं होता।

कुछ नियम एवं सिद्धान्त हैं जिन पर प्रकृति की सारी कार्य-प्रणाली आधारित है। सब कुछ एक नियत क्रम से चलता रहता है। जन्म, वर्धन, अपक्षय और विलय की प्रक्रिया एक समान रूप से सभी के लिए घटित होती रहती है। एक चीज उत्पन्न होती है, फिर प्रौढ़ता की एक सीमा तक बढ़ती जाती है, उसके बाद वह जीर्ण होती चली जाती है यहाँ तक कि वह विलय हो कर भौतिक दृष्टि से लुप्त हो जाती है। क्या वह सदा के लिए चली या खो जाती है? निश्चयतः नहीं। कुछ समय बाद वह उसी तरह के या थोड़े भिन्न रूप में भौतिक सत्ता ग्रहण करती है और वर्धन और क्षय की उसी प्रक्रिया से गुजरती है। हर मामले में निरन्तर यही होता रहता है और ब्रह्मांड

---

१. Sweet will

पर भी यही लागू है। ईश्वर का संकल्प सृष्टि, विकास और विघटन की समग्र प्रक्रिया के दौर में बराबर क्रियाशील रहता है और जिस समय जिस काम की आवश्यकता है उसके लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार हम सृष्टि और विघटन की नैत्य[1] प्रक्रिया को प्रकृति के अनिवार्य नियम से मेल खाती हुई पाते हैं।

सृष्टि

हम उस उस छोर से शुरू करें जब अपने वर्तमान भौतिक रूप में ब्रह्मांड का अस्तित्व नहीं था। तब क्या था ? जैसा हम आज देखते हैं उस तरह का कुछ नहीं, पर अपनी सूक्ष्म एवं परिशुद्ध अवस्था में सब कुछ। पदार्थ था पर अपनी विशुद्धतम दशा, सार रूप में; शक्ति थी, पर प्रायः शून्यता तक न्यूनीकृत; क्रियाशीलता थी, पर पूर्णतः अव्यक्त[2] अवस्था में। केन्द्र के चारों ओर, हर वस्तु का पूर्णतः प्रसुप्तावस्था में सारतत्त्व विद्यमान था। इस प्रकार समझने के लिए सृष्टि की सारी वस्तुओं के सार रूप से घिरे हुये, और इकाई के रूप में संघटित, केन्द्र या शून्य बिन्दु को ही पूर्ण, ब्रह्म, असीम माना जाता है।[3]

---

१. Routine २. Latent

३. अन्तर्हित कम्पनों से शक्ति उत्पन्न हुई। वह वेगपूर्वक बाहर निकली और उसने कुछ उत्पन्न किया जिसे, समझने के लिए, जलांडक

जब सृष्टि का समय आया तब केन्द्र के नीचे के क्षेत्र में एक हल्का झटका (क्षोभ) लगा। शब्दों में यह बता पाना कि वह झटका क्या था, बहुत कठिन है। हाँ, इसे संकल्प का एक हल्का आघात, एक प्रेरणा, एक प्रारम्भ कह सकते हैं। पर यह भी, जो कुछ वह वस्तुतः था उसकी तुलना में, बहुत ही स्थूल होगा। फिर भी यह जो था, सो था। पर इसके कारण केन्द्र के चारों ओर के अव्यक्त कंपन में हलचल उत्पन्न हो गई। वह झटका जो पहली नजर में आकस्मिक लगता था, वास्तव में वैसा नहीं था, बल्कि विकास और निवर्तन[1] के दैवी नियम के अन्तर्गत था। विकास की प्रक्रिया के चालू होते ही ब्रह्मांड का क्रमिक निर्माण प्रारंभ हो गया।

क्षोभ

अब, जब सारा कार्य विकास की सामान्य प्रक्रिया का परिणाम था, तो पहले झटके की क्रिया क्या थी? झटका भी

(spawn) में मछलियों के अंडे कह सकते हैं। ये अंडाकार चीजें, अन्तर्हित कम्पनों से निर्मित शक्ति और ऊर्जा के घनीभूत सार से भरी हुई हैं। अब यह तीनों चीजें—केन्द्र, अन्तर्हित कंपन और तथाकथित अंडाकार चीजें—एक दूसरे से इतनी जुड़ी हुई हैं कि उनको अलग अलग करके देखना बहुत कठिन है और यह सारी या तो एक, या एक के रूप में समायोजित, दिखती हैं।

(राजयोग का दिव्यदर्शन)

१. Involution (सिमटना, ह्रास)

उसी शाश्वत नियम के अधीन था। यदि एक बीज का उदाहरण लें, जो बोये जाने पर अपने अंदर कुछ अपरिलक्षित परिवर्तनों से गुजरने लगता है, तो बात अधिक साफ़ हो जावेगी। कुछ समय बाद बीज धरती फाड़ कर बाहर निकल आता है और इससे नन्हें अँखुये निकलते हैं। इसी तरह, समझने के लिए इस पहले झटके को भी अँखुये का अपने आप निकलना मान लेना चाहिए, जिससे अधिक दिखने लायक रूप में विकास प्रारम्भ होता है।

पहले झटके से उत्पन्न क्षोभ के कारण केन्द्र के चारो ओर चक्कर लगाने की गति की तीव्रता बढ़ गयी। स्पन्दन का वेग बढ़ा और शक्ति जीवन्त होने लगी। आसपास के क्षेत्र में दरार पैदा करती हुई शक्ति सवेग बाहर निकली[१]।

---

१. लो, मैं सृष्टि की असलियत भी उद्घाटित कर दूँ। सृष्टि के अस्तित्व में आने के पूर्व, केन्द्र के चारों ओर केवल गुप्त गति थी और उससे लगी हुई और उसके अन्दर सृष्टि की एक भावना (क्षोभ) विद्यमान थी। तुम अपने समझने के लिए इसे गति, स्पन्दन, शक्ति या चाहे जो कुछ कहो। यही सृष्टि का, और इसके लिए आवश्यक हर किसी चीज़ का, मूल कारण थी। जब सृष्टि की बेला आई, तब गुप्त गति में जो भावना छिपी या सोई पड़ी थी परिपक्व हुई और उसने समग्र गति को मथ डाला और एक बल या शक्ति को उत्पन्न किया जो वेगपूर्वक बाहर निकली।

(राजयोग का दिव्य दर्शन)

सीमा-रेखा के आस-पास उसने (शक्ति ने) नन्हें केन्द्र बनाये। हर केन्द्र के क्रियाशील होने पर, चारो ओर घनीभूत रूप में विद्यमान पदार्थ उसकी ओर आकर्षित होने लगे। इस प्रकार शक्ति, गति, क्रिया और पदार्थ सब अपेक्षित ब्रह्मांड को वर्तमान रूप में लाने में लग गये।

प्रलय

यह प्रक्रिया चलती रही और हर चीज़ प्रकाश में आने लगी—प्रारम्भ की अवस्थाओं में सूक्ष्म रूप में, पर आगे चलकर उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई, भौतिक स्वरूप लेकर। चीज़ों का भौतिक स्वरूप दृष्टि में आने लगा। समय आने पर सारे ब्रह्मांड की रचना हुई। अब सृष्टि की प्रक्रिया वर्धन की प्रक्रिया में बदल गई और हर चीज़ अधिकाधिक स्थूल होती गयी। अस्तित्व की अवस्था के परिपक्वता तक पहुँचने पर निवर्तन की प्रक्रिया का आना अनिवार्य है। और उत्तरोत्तर वर्धन भी एक अवधि के बाद उस प्रक्रिया में परिवर्तित होता है जो अपक्षय और विघटन की ओर उन्मुख रहती है। अन्त में हर चीज़ विघटित होकर मूल या शून्य बिन्दु के पास लौट जाती है और उसके बाद वर्धन और विकास का नया दौर फिर शुरू होता है।

(३) मानव

यथार्थ और प्रतीयमान[1]

ईश्वर शाश्वत है, मनुष्य भी शाश्वत है पर कहा जाता है कि मनुष्य मरण-धर्मा है इस विरोधाभास का कारण मानव शब्द का सही अर्थ लगाने में विभिन्नता है। हमारी वाह्य दृष्टि में मानव का अर्थ है भौतिक शरीर वाला स्थूलतर मूर्त रूप। भौतिक तत्त्वों का बना होने से शरीर क्षय और विघटन के अधीन होता है। इस अर्थ में मनुष्य मरणशील होता है। पर वास्तव में मनुष्य का अस्तित्व भौतिक शरीर के नष्ट होते ही समाप्त नहीं होता। भौतिक शरीर के अन्त होने पर भी 'कुछ' बचा रहता है, भले ही भौतिक रूप में उसे देखा या महसूस न किया जा सके। इसका अर्थ है कि प्रतीयमान मनुष्य यथार्थ मनुष्य से भिन्न है और यद्यपि प्रतीयमान मनुष्य मर कर खत्म हो जाता है, फिर भी यथार्थ मनुष्य सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान रहता है। फिर, हो सकता है कि मृत्यु के बाद बचे रहने वाला सूक्ष्मरूपधारी मानव भी यथार्थ मानव न हो क्योंकि भौतिक शरीर के स्थूलतम आवरणों से छुटकारा पाने पर भी वह कम से कम स्थूलता वाले अनेकानेक आवरणों में लिपटा रहता है। इस तरह मानव को यथार्थ सत्ता को खोज निकालने

---

१. Real and Apparent

के लिए स्थूलतम से चलकर सूक्ष्मतम आवरणों से परे, बहुत पीछे जाना पड़ेगा।

वर्तमान रूप में मनुष्य का आना भी न आकस्मिक है न संयोगवश है बल्कि यह विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। यह उस समय से प्रारम्भ हुआ जब क्षोभ (आदिसृष्टिकाल की हलचल) के प्रभाव-वश शक्ति, कार्य हेतु केन्द्रों का निर्माण करती हुई वेग पूर्वक बाहर फैलने लगी। प्रत्येक केन्द्र या नाभिक[१] की स्वतंत्र क्रिया प्रारम्भ होने पर, वह चीजों को सृष्टि के लिए अपेक्षित सामग्री को अपनी ओर खींचने लगी। उसी प्रकार सूक्ष्मतम रूप वाले अलग व्यक्तित्व के रूप में मनुष्य के जीवन का भी प्रादुर्भाव हुआ। जीवन की विशुद्धतम अवस्था से जो ईश्वर की अवस्था के सदृश थी, मनुष्य ठोसपन की तह-दर-तह से (जिन्हें अधिक उपयुक्त शब्दों में आत्मा के आवरण कहा जाता है) घिरता हुआ, स्थूलता की ओर बढ़ता, चला गया।[२]

१. Nucleus

२. मनुष्य की बनावट भी एकदम वही है जो ब्रह्मांड की। जैसे इस स्थूल वाह्य सृष्टि के पीछे अन्य असंख्य, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतर सृष्टियां हैं, ठीक उसी तरह मनुष्य के इस स्थूलतर भौतिक स्वरूप के पीछे जीवन के अनेकानेक सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतर रूप हैं। वाह्यतम स्वरूप भौतिक शरीर है जिसके पीछे सूक्ष्म और कारण शरीर हैं। इन तीन वाह्य रूपों के अतिरिक्त अन्य असंख्य रूप इतने सूक्ष्म हैं कि दार्शनिकों ने उन्हें शरीर न कहकर आत्मा को चारों ओर से घेरनेवाला महीन आवरण कहा है। (सत्य का उदय)

अति विशुद्ध चेतना अथवा अहं से निर्मित प्राथमिक आवरण अपनी ही क्रिया के प्रभाववश ठोस बनता गया। मन, चित्त और बुद्धि की क्रिया ने इसकी स्थूलता में वृद्धि की। इसके आगे, विचार अपना जाल फैलाने लगा; कार्यों में रूपान्तरित होकर वह संस्कार बनाने लगा। इस प्रकार हर वस्तु ठोसपन की ओर अपना योगदान देने लगी। स्थूलता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी यहाँ तक कि अन्त में मनुष्य ने पूरे ठोसपन का अपना वर्तमान रूप धारण कर लिया। इन्द्रियों और मानसिक शक्तियों की असंतुलित क्रिया विविध रीतियों से जीवन की अपारदर्शिता में वृद्धि करती गयी[१]।

परिणाम यह हुआ कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप बढ़ते हुए ठोसपन के इन असंख्य आवरणों से पूरी तरह ढक गया, जैसे कोये में रेशम के कीड़े की दशा होती है। ऐसा कैसे हुआ–

१. सृष्टि के पूर्व सर्वत्र पूर्ण साम्यावस्था व्याप्त थी। जब सृष्टि का समय आया, तब निष्क्रिय केन्द्र के चारों ओर के अव्यक्त स्पन्दन क्षोभ (आदिकाल की हलचल) के प्रभाव से तीव्र हुए और क्रियाशीलता का प्रारम्भ हुआ। साम्यावस्था में विक्षेप हुआ। ऊर्जा की क्रियाशीलता के केन्द्र और उपकेन्द्र बनने लगे। प्रत्येक केन्द्र अधिकाधिक शक्तिशाली होने लगा। कार्य और प्रतिकारी कार्य बढ़ने लगे, ठोसपन घनीभूत होने लगा, आवरण पड़ने लगे। इन सबके फलस्वरूप वस्तुओं को भौतिक स्वरूप मिलने लगा। (गुरुदेव के एक पत्र से)

यह वस्तुतः हमारे कर्मों और प्रतिकारी कर्मों का परिणाम है, जो स्वरूप की ठोसता में थोड़ी थोड़ी वृद्धि करते रहे। दूसरे शब्दों में मनुष्य ने इस तरह अपनी खुद की एक सृष्टि खड़ी कर ली। सही अर्थ में, वह विद्यमान सारी वस्तुओं के संगठित स्वरूप में या व्रह्माण्ड की एक नन्हीं नकल में, रूपान्तरित हो गया[१]।

इस तरह मनुष्य की संरचना में उसका वाह्यतम आवरण उसका भौतिक शरीर होने से, और उस शरीर के साथ उसका तादात्म्य माना जाने के कारण, मनुष्य को अस्पष्टतः मर्त्य कहा

---

१. मर जाने पर मनुष्य का क्या होता है? स्वभावतः हम केवल यह कैफ़ियत नहीं स्वीकार करते कि जब मनुष्य मरता है तो वह विघटित हो जाता है और यही उसका अन्त है। जीवन कहीं अधिक सोद्देश्य हैं और मनुष्य होने का एक आशय है। उसकी एक आत्मा होती है जिसकी पूर्व और पश्चात् की स्थितियाँ होती हैं। आत्मा प्रतिक्षण उन्नति करती हुई एक विकासशील इकाई है। और जन्म और मरण इसकी यात्रा में केवल मुक़ाम हैं। मृत्यु के समय केवल भौतिक शरीर निर्जीव होता है। अनेक आवरणों से निर्मित सूक्ष्म शरीर में स्थित आत्मा जैसी की तैसी, सजीव, रहती है। वह भौतिक कोषों या तलों का विसर्जन करके, अपने विश्राम स्थल की ओर बढ़ती हुए, सक्रमणकालीन अनेक संसारों से गुज़रती है। वह प्रत्येक तल पर तब तक के लिए रुकती या रोकी जाती है जब तक कि उस तल के अनुरूप कोषों को उतार नहीं फेंकती और अगले तल की यात्रा के योग्य नहीं हो जाती। (एम० पी० पंडित—ईश्वर के राजमार्ग)

जाता है, यद्यपि अन्तःस्थित वास्तविक जीव स्वयं परमात्मा जितना ही अमर और शाश्वत है। इस पहलू से, जहाँ तक सत्ता की वास्तविक प्रकृति का सम्बन्ध है, वे दोनो प्रायः अभिन्न हैं, यद्यपि देखने में वे एक दूसरे से बहुत भिन्न दिखते हैं। वास्तव में उन दोनों के बीच अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य व्यष्टिगत आत्मा के रूप में सीमित और बन्धन में है जब कि ईश्वर समष्टिगत आत्मा के रूप में असीम और अनन्त है। इस छोटे से अन्तर के अतिरिक्त वे दोनों एक तरह से अभिन्न हैं। गुरुदेव ने इस विचार को निम्नलिखित पंक्तियों में उदाहरण द्वारा भली-भाँति समझाया है:—

"पूरा भूमण्डल हवा के एक घने आवरण से घिरा हुआ है और यह सर्वत्र प्रायः एक सा है। पर धरती के निकट की हवा उच्चतर तल की हवा से भारी होती है। हवा में हलकापन ऊँचाई के साथ बढ़ता चला जाता है यहाँ तक कि उच्चतम तल पर उसकी उपस्थिति तक मानवीय इन्द्रियों के लिए अबोधगम्य हो जाती है और उस नकारावस्था में उसका अनुभव करने की अक्षमता के कारण, यह मान लिया जाता है कि वह है ही नहीं। मनुष्य और ईश्वर के बीच वही अन्तर है जो धरती से बहुत नजदीक और सबसे ऊपर के तलों की हवा में। इस तरह ईश्वर से प्रायः अभिन्न होने पर भी मनुष्य अपने घनेपन या स्थूलता के कारण उससे भिन्न होता है।"

(४) मानव जीवन

लक्ष्य

अभी तक हमने विवेचन किया कि सृष्टि कैसे प्रकट हुई। बहुत से उतार चढ़ाव के बीच से मानवीय जीवन आगे बढ़ा। सृष्टि के केन्द्र के रूप में मनुष्य के लिए जीवन के कुछ निर्देशक सिद्धान्तों का होना आवश्यक था। मनुष्य के जीवन का एक लक्ष्य है, जहाँ तक उसे पहुँचना ही है। इसके आगे, ध्यान में रखने की बात यह है कि लोग उस लक्ष्य को कैसे भली-भाँति समझें और कैसे उसको पाने में लगे रहें। हर काम के पीछे कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है। यह बात प्रायः हर मामले में चरितार्थ होती है, यह अलग बात है कि हम उसे समझ पाते हैं या नहीं। यही बात व्यक्ति के जीवन पर भी, जिसका भी एक लक्ष्य होता है, घटित होती है। यदि मनुष्य में अपनी समस्या का समाधान पाने की सच्ची आकांक्षा है, तो उसे लक्ष्य को खोज निकालना होगा। जीवन-समस्या के सही समाधान के लिए, हमें यह पूरी तरह से समझना आवश्यक होगा कि हम किसकी तलाश में हैं। बहुत महत्त्वपूर्ण बातों में से यह एक है, जिसके बिना सफलता का मिलना असम्भव है। आध्यात्मिकता पर तो यह विशेष रूप से लागू होती है क्योंकि उस क्षेत्र में व्यक्ति को अपने अभीष्ट लक्ष्य को सदा ध्यान मे रखना पड़ता हैं। यह अक्सर देखा गया है कि लोग, बिना यह समझे हुये कि

हम क्या पाने के लिए प्रयत्नरत हैं, दिव्य उद्देश्य से एक या दूसरा साधना-मार्ग पकड़ लेते हैं। परिणाम बहुत बार यही होता है कि वे जीवन भर संदेहों और प्रवंचनाओं में फँसे रहते हैं। इसलिए किसी एक साधना-मार्ग को पकड़ने के पहिले, अपने अभीष्ट ध्येय की सही सही जानकारी बहुत आवश्यक है। ध्येय के स्पष्ट और सुनिश्चित निर्धारण के बाद ही, उसकी प्राप्ति के लिए सही मार्ग का चयन संभव है।

सामान्यतः हर किसी का जीवन-लक्ष्य एक नहीं होता। हर कोई अपनी समस्याओं से अपने को घिरा हुआ पाता है और उनसे उत्पन्न परिस्थिति से अधिकतर उसका जीवन-लक्ष्य निर्धारित होता है। भौतिकता में उसकी अत्यधिक आसक्ति के कारण उसकी समस्यायें अधिकतर सांसारिक होती हैं। उसके ध्यान में केवल भौतिक आवश्यकतायें, अभिलाषायें, सुखोपभोग रहते हैं और उन्हीं में वह सदा उलझा रहता है। हमारे भौतिक अस्तित्व के लिए सांसारिकता निस्सन्देह अपरिहार्य है; पर तब भी व्यक्ति को यह कभी न भूलना चाहिए कि जीवन-लक्ष्य की साधना केवल भौतिक व्यापार नहीं है। इसलिए व्यक्ति को साधारणतः नजर-अंदाज होने वाले दूसरे पक्ष का भी खयाल रखना चाहिए।

मनुष्य का अस्तित्व केवल इसी जीवन तक सीमित नहीं रहता। अब तक वह अस्तित्व की अनेकानेक स्थल या सूक्ष्म

स्थितियों से गुजरा है और भविष्य के सम्बन्ध में कोई ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि अन्त तक वह कितनी और स्थितियों से गुजरेगा । यह चक्र लगातार चलता रहता है जब तक वह उच्चतर चेतना के प्रति जागरूक होकर स्वयं उसके समाधान के लिए तत्पर नहीं हो जाता ।

भौतिक दृष्टिकोण

एक पूर्ण भौतिकवादी के दृष्टिकोण से, जिसके लिए जीवन का अस्तित्व केवल जन्म से लेकर मृत्यु तक ही है, बात दूसरी है । वह अपने अतीत या भविष्य को लेकर कोई चिन्ता नहीं करता और भौतिक तत्त्वों से आगे उसका कुछ प्राप्य नहीं रहता । उसकी एक मात्र चिन्ता अपने भौतिक-व्यक्तित्व या उससे शरीरतः सम्बद्ध किसी भी वस्तु को लेकर होती है । संसार ही उसके लिए सब कुछ है, वह सदा उसके भौतिक आकर्षणों के वशीभूत रहता है । उसके जीवन का लक्ष्य है हँसी खुशी से भरा जीवन बिताना ।

फिर ऐसे भी लोग हैं जो, सांसारिक प्रयोजनों से, कभी कभी धार्मिक चेतना की ओर प्रेरित होने के अतिरिक्त, और सब तरह सांसारिक भावनाओं में पूर्णतः मग्न रहते हैं । संकट की घड़ी में वे भले ही अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दैवी विचारों की ओर उन्मुख हो जाँय, पर उनका सारा सोच-विचार अपने भौतिक व्यक्तित्व पर आधारित रहता है । वे देवताओं को

औपचारिक पूजा करते हैं पर केवल सांसारिक प्रयोजनों के लिए, जैसे सांसारिक सुख, लौकिक लाभ या ऐन्द्रिय अभिलाषाओं की पूर्ति । वास्तव में वे पक्के भौतिकवादी लोगों से जो स्थूल विषयों को छोड़ कर और किसी चीज को नहीं मानते, जरा भी अच्छे नहीं हैं।

धार्मिक मत

धर्म मनुष्य को किसी आदर्श की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा में प्रवृत्त करता है और लोग कट्टरता के साथ, बँधी बँधाई रीति से उसे सम्पन्न करते हैं। लेकिन सामान्यतः यह देखा गया है कि अधिकांश लोग लक्ष्य, उद्देश्य या प्रयोजन स्थिर किये बिना इसमें लगते हैं। यदि किसी से पूछा जाता है कि तुम पूजा करते ही क्यों हो, तो उसके लिए उत्तर देना कठिन हो जाता है और वह बहुत परेशान हो जाता है। इसका कारण स्पष्टतः उद्देश्य की स्पष्ट जानकारी का अभाव है। जो कुछ वह करता है वह केवल किसी पुरानी प्रथा के पालनार्थ या कदाचित् किसी कल्पित तंत्र-मंत्र के लिए। पर यदि कोई इसका किसी तरह जवाब देने का साहस भी करे, तो वह यही कहेगा, "अरे हम उनकी पूजा इसलिए करते हैं कि उन्होने हमें उत्पन्न किया है और जीवन यापन के साधन दिये हैं। इसलिये हमें उनका आभारी होना चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए।" लेकिन साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि

संसार एक बन्दीगृह है जिसमें मनुष्य अपने अतीत कर्मों (संस्कारों) के फल को भोगने आता है। इस तरह संसार में हमारी स्थिति दंड भोगने के लिए रक्खे गये बन्दी की स्थिति के समान है। अब बन्दियों में कौन जेल भेजने वाले ईश्वर का कृतज्ञ होगा। जहाँ तक जीविका-साधन देने की बात है, जो हमें कैद में रखना चाहता है वह स्वभावतः हमारी नितान्त आवश्यकताओं का भी ध्यान रक्खेगा, चाहे हम उसके आभारी हों या न हों। इस तरह उस आशय से ईश्वर की पूजा का कोई अर्थ नहीं होता। कुछ और लोग इसकी एक भिन्न व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि हम उसकी पूजा इसलिए करते हैं कि वह हमें पीड़ा और दुर्गति से बचाये।[1]

यह एकदम असंगत भी नहीं क्योंकि पीड़ा और दुर्गति से बचे रहने की सभी जीवधारियों की प्राकृतिक सहज प्रवृत्ति है। लेकिन फिर हम यह भी जानते और मानते हैं कि जब तक हम

---

१. जीवन में कष्टों और आपत्तियों का नितान्त अभाव अप्राकृतिक और असम्भव है। वास्तव में वे हमारी बेहतरी के लिए हैं। वे रोगी के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए दवा की कड़वी गोलियों की भाँति हैं। सर्वोत्तम वस्तु का भी दुरुपयोग कष्ट का कारण हो जाता है। ऐसा ही दुःखों के साथ भी होता है। प्रत्येक वस्तु का उचित समय पर, एवं उचित रूप से, उपयोग अन्त में अवश्य ही शुभ परिणाम लावेगा। दुःख हमारा सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक है जो हमारे पथ को प्रशस्त बनाता है। (सत्य का उदय)

इस संसार में हैं तब तक पीड़ा और दुर्गति से बचे रहना असंभव है क्योंकि उनके अभाव में भोग, जिसके लिए हम यहाँ आये, एकदम प्रभावहीन हो जायेंगे और हमारी मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध कर भोग जैसे के तैसे बने रहेंगे। जीवन में पीड़ा और विषाद अपरिहार्य हैं और कोई उनसे बच नहीं सकता। उच्चतम दशा को प्राप्त संतों को भी कष्ट सहने पड़ते हैं। पीड़ा और सुख एक दूसरे के अगल-बगल में रहते हैं और एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असंभव है। इसलिए पीड़ा से मुक्ति के लिए पूजा करना एक उपहास है और सच्चे प्रेम और भक्ति से रहित है।

भक्ति

जैसा हर कोई अच्छी तरह जानता है, भक्ति, पूजा की निस्सन्देह एक मूलभूत विशेषता है, पर यह सचमुच है क्या, इसे समझ पाना सरल नहीं है। सामान्यतः भ्रमवश इसे भावावेग मान लिया जाता है, जो अकसर सस्वर पाठ, संगीत या उसी तरह के अन्य साधनों द्वारा उत्पन्न होता है। इस अर्थ में यह केवल एक प्रकार का ऐन्द्रिक सुख है जो भक्त को बहुत प्रीतिकर लगता है। इसी लिए भक्त उससे लीन रहना चाहता है। सामान्य धारणा वाली भक्ति के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। तथाकथित अधिकांश भक्त उसके बाह्य पक्ष का आश्रय लेते हैं। वे मन्दिर जाते हैं, मूर्ति के सामने खड़े होते

हैं, उस पर जल छिड़कते हैं, फूल और मिठाई चढ़ाते हैं और भक्ति स्तोत्रों से उसकी स्तुति करते हैं। किसलिए ? कदाचित् केवल किसी भौतिक आकर्षण वश, या अपनी कुछ सांसारिक अभिलाषाओं की पूर्ति की याचना करने के लिए। संक्षेप में जो कुछ भी वे करते हैं वह सच्चे अर्थ से रहित, एक मनोरंजन मात्र है। फिर भी ऐसे लोग सच्चे भक्तों के रूप में जाने और माने जाते हैं। दूसरे ऐसे लोग हैं जो जप, पाठ या कीर्तन की यांत्रिक विधियों का प्रतीयमान उत्तेजना और भावाकुलता के साथ पालन करते हैं, पर केवल उस मनोरमता के कारण जो उनमें उन्हें लगती है। पर इन सब मामलों में वे केवल भावावेगों का बाहरी दिखावा करना चाहते हैं, जब कि अन्दर से उतने ही भक्तिशून्य होते हैं जैसे कोई पक्का अभक्त। उनकी दृष्टि में भक्ति का कदाचित एक ही अर्थ है—देवताओं को अपने सच्चे प्रेम का विश्वास दिलाने के लिए अपनी भावाकुलता का उत्तेजनापूर्ण प्रदर्शन। वस्तुतः यह तो केवल खुशामद है और यह सारी प्रक्रिया एक दिखावा है। खुशामद वस्तुतः मन की कुछ कामनाओं की पूर्ति के विशिष्ट उद्देश्य से, शुद्धहृदयता और प्रेम का केवल दिखावा है। पर यह आदमी को धोखा दे सकता है, भगवान् को नहीं, जो उसके खुद के विश्वास के अनुसार सर्वज्ञ है। इसलिए ऐसे भक्तों को अधिक से अधिक केवल अपने शारीरिक श्रम की मजूरी मिल सकती है। वास्तव में आन्तरिक दशा ही भक्ति का सच्चा रूप है। इस अर्थ में,

बाहरी दिखावे से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सच्ची भक्ति में कोई उत्तेजना, भावों का उद्वेग, रोना-धोना, रुग्णावस्था या विलाप नहीं होते। यह हृदय के अन्तरतम प्रदेश में स्थित, और बिना शारीरिक बोध के सारे विचारों, भावावेगों और अनुभूतियों को निःशेष करती हुई, धीमे-धीमे जलनेवाली आग है।

वास्तविक उद्देश्य

तब पूजा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? पीड़ा और शोक से मुक्ति तो निःसन्देह हर अवसादभरी आत्मा की सच्ची कामना है। पर यदि हम उसके लिए जीवन की उन बीतती हुई घटनाओं पर नजर रखेंगे, जो भोग प्रक्रिया के लिए आवश्यक हैं, तो कदाचित् यह भारी भूल होगी। इसके लिए हमें मूल कारण को ध्यान में रखना होगा जिसके नष्ट किये जाने पर हमें पीड़ा और दुर्गति से मुक्ति मिल जायेगी। जैसा कि सभी जानते हैं, वह कारण है संस्कारों का फल भोगने के लिए संसार में हमारा शारीरिक अस्तित्व। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम किसी प्रकार संसार में अपनी वापसी का अन्त कर सकें, तो हमें उससे होने वाले कष्टों से छुटकारा मिल जायेगा। मरने के बाद पुनर्जन्म में जिनका विश्वास नहीं है उनके लिए जीवन का उद्देश्य स्वर्ग के रूप में निर्धारित होता है, जिसके लिए उन्हें केवल जीवन

के नैतिक और धार्मिक नियमों का पालन करना आवश्यक है। लेकिन इससे उन लोगों को कोई समाधान नहीं मिलता जो कर्मानुसार मनुष्य के अतीत, वर्तमान और भावी अस्तित्व में विश्वास करते हैं। हर वस्तु कार्य-कारण-न्याय के अन्तर्गत है। उसी प्रकार, स्वाभविक रूप से, एक के बाद दूसरे जन्म-मरण के इस निर्धारित क्रम में, मनुष्य का अस्तित्व चलता रहता है। इसलिए अस्तित्व सम्बन्धी उसकी समस्या केवल इसी जन्म को लेकर नहीं, बल्कि अन्त तक होने वाले सभी जन्मों को लेकर, हैं। अतः उसे सर्वप्रथम जो प्राप्त करनी है वह है आगामी जन्मों की दुर्गतियों से बचाने वाली, पुनर्जन्म से मुक्ति। उसके लिए एक मात्र समाधान है मोक्ष।

मोक्ष

अक्षरशः मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण से मुक्ति। इसके दो अर्थ लगाये जाते हैं: मुक्ति (सैल्वेशन[१]) और मोक्ष (लिबरेशन[२])। इन दोनों दशाओं के बीच महान् अन्तर है। मेरे गुरुदेव की दृष्टि में मुक्ति (सैल्वेशन) जन्म-मरण क्रम में अल्पकालिक विराम है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए, उनकी उपलब्धि के स्तर के अनुसार, विराम की अवधि भिन्न-भिन्न हो सकती है। इस अवधि के पूरी होने पर व्यक्ति को फिर से मूर्त रूप धारण करना और जन्म-मरण-क्रम से गुजरना पड़ता है। इस

१. Salvation. २. Liberation.

प्रसंग में मुक्ति किसी तरह अस्तित्व की समस्या का समाधान नहीं है। सच्चे अर्थ में मोक्ष (लिबरेशन) ही समाधान है। उस दशा में, शरीर रूप में जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म-मरण-प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। लेकिन वह भी अस्तित्व की अंतिम समाप्ति नहीं है, क्योंकि स्थूलतम आवरणों से मुक्त हो जाने पर भी जीव शुद्धतर और सूक्ष्मतर आवरणों से अब भी ढका रहता है। इस प्रकार आत्मा के चारों ओर के पाश अब भी बने रहते हैं, पूर्ण मुक्ति की दशा प्राप्त करने के लिए उनका भी विच्छिन्न होना आवश्यक है। सामान्यतः मोक्ष शब्द का सैल्वेशन और लिबरेशन दोनों अर्थों में भ्रान्तिकारी प्रयोग होता है। लेकिन सैल्वेशन के अर्थ में मोक्ष हमारी समस्या का समाधान नहीं है। लिबरेशन मोक्ष शब्द की, जिसका अर्थ पुनर्जन्म से मुक्ति है, सही व्याख्या हो सकता है। धार्मिक ग्रन्थों में वर्गीकृत विभिन्न प्रकार की मोक्ष की दशायें पाठक के मन को गड़बड़ाती हैं और उसे चक्कर में डालती हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण

मनुष्य का वर्तमान भौतिक रूप स्थूलता के उन असंख्य आवरणों का परिणाम है, जो विकास-क्रम में आत्मा के चारों ओर जम गये हैं।[1]

---

1. जीवात्मा, जो आदिकाल में विश्वात्मा का एक भाग थी, उससे अलग हो गयी, और उसकी एक अलग सत्ता बन गयी। मनुष्य की

सार तत्व जो अन्दर दबा पड़ा है प्रसुप्त रूप में सक्रिय है। वह मनुष्य के अन्दर अपने मूल की ओर लौटने की निगूढ़ अभिलाषा को जागृत करता है। अब, मूल स्रोत में अपनी वापसी के लिए निवर्तन प्रक्रिया को फिर से अपनाना आवश्यक है। इसका अर्थ है अहं-जगत की रचना के लिए जिन चीजो का हमने निर्माण किया है उन सबका विनाश। इसका मतलब है अंत तक के सारे आवरणो को हटाना। इस प्रकार जब जीवन का उद्देश्य, मूल की ओर हमारी वापसी या अस्तित्व के आदिम अवस्था की प्राप्ति है, तब जिनसे हम ढके हुए हैं उन सब आवरणों को हटाना एक मात्र प्रक्रिया है। जैसे सृष्टि की समस्त वस्तुओं की वापसी के लिए महाप्रलय आवश्यक है, उसी प्रकार अहं-जगत का विघटन मूल की ओर हमारी वापसो के लिए आवश्यक है। यही काम हम ध्यान में करते हैं। एक बिन्दु —परंब्रह्म—पर हम अपने को समाहित कर लेते हैं, अपनी सृष्टि

संरचना में अलग अस्तित्व का बोध या अहं पहला आवरण था। उस आदिम दशा के उपरांत जीवात्मा स्थूलतर तह पर तह से अपने को ढकती गयी और अंत में अपनी वर्तमान अवस्था में आयी। हमारी एक मात्र समस्या उस आदिम दशा में लौटना है। इसका अर्थ है कि हमें सुदूरतम छोर तक, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, यात्रा करनी है। स्थूलता से छुटकारा पाने के लिए, अपनी स्वतन्त्र सत्ता के निर्माण के लिए अब तक हमने जो कुछ संग्रह किया है और जो हमारे पास हमारे माल असबाब के रूप में है, उस सबको छोड़ देना होगा। (गुरुदेव के एक पत्र से)

की उन सारी चीजों की उपेक्षा करते हुये, जो अनचाहे पौधों की तरह मुरझा कर गायब होने लगती हैं। इस प्रकार हम शून्यता की ओर बढ़ते जाते हैं, जो सही अर्थ में सच्ची साधना है।

पूर्णता

पूर्णता और पूर्णताप्राप्त सन्तों के विषय में हम बहुत कुछ सुनते रहते हैं। सामान्यतः ऐसा आदमी पूर्ण समझा जाता है जिसके सम्बन्ध में यह अस्पष्ट धारणा होती है कि उसने अपने मतानुसार आत्मदर्शन प्राप्त कर लिया है। लेकिन पूर्णत्व या आत्मदर्शन तक का अभिप्राय है क्या, यह बहुधा बहुत अस्पष्ट रहता है। सामान्य स्तर की समझ के अनुसार, कोई भी ऐसा व्यक्ति पूर्ण समझा जाता है जिसने कुछ ऐसी उल्लेखनीय उन्नति की है कि सैद्धान्तिक समस्याओं के विद्वत्तापूर्ण विवेचन से या कुछ असामान्य शक्तिओं के प्रदर्शन से वह जन-साधारण को प्रभावित कर लेता है। केवल इसी कारण, स्वच्छन्द विचरण करते हुये साधुओं के समग्र दलों में शायद ही ऐसा साधु मिले जो, अपने चेलों के वैसा दावा करने पर भी, अपने पूर्ण होने का दावा नहीं करता। हर एक साधु के थोड़े बहुत चेले तो होते ही हैं जो चालबाजियों में उसकी सहायता करते हैं। व्यक्ति व्यक्ति के विचारों और धारणाओं के अनुसार 'पूर्णता' शब्द का भी अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। सद्गुणी और धर्मभीरु होना सराह-

नीय हो सकता हैं, पर यह पूर्णता नहीं है। मनसा, वाचा, कर्मणा, ईश्वर-भक्त होना उन्नति की एक अवस्था हो सकती है, पर वह पूर्णता नहीं है। ईश्वर के संसर्ग में रहना बहुत ऊँची अवस्था हो सकती है, पर वह भी पूर्णता नहीं है। सच तो यह है कि केवल ईश्वर पूर्ण है; कोई भी मानव, चाहे वह कितना ही बढ़ा हुआ क्यों न हो, पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। हम मानवीय अवाधरणा से परे, अन्तरतम के केन्द्र या असीम शून्य बिन्दु की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। पूर्णता का एक अस्पष्ट सा अर्थ हो सकता है, उस दिशा में यथासम्भव सुदूरतम सीमा तक हमारो पहुँच। वस्तुतः पूर्णता का प्रमाणांक निर्धारित करना सर्वथा असम्भव है। इसलिए इस शब्द का कोई सही अर्थ नहीं है, यह प्रायः निरर्थक हो है।

समाधान

जोवन की समस्या को मानवीय सत्ता के सुदूरतम छोर के सन्दर्भ में सुलझाना होगा। इसके लिए भौतिकतावादी मत की उपेक्षा करनी होगी क्योंकि भौतिकतावादी के सारे काम अपने पार्थिव अहं में संकेन्द्रित रहते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिस स्रोत से उतरते हुये हम नीचे आये हैं, उसी स्रोत में हमें वापस जाना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम शुरू से ही परम सत्य की पर्याय शुद्धतमातीत सूक्ष्मता पर नजर गड़ाये रहें। अंतिम सीमा तक स्थूलता को दूर करना एक मात्र

समाधान है। यह तभी सम्भव होगा जब सूक्ष्मतम की प्राप्ति के लिए हम सांसारिकता के प्रभाव से रहित सूक्ष्मतम साधनों को अपनायें। अभीष्ट उद्देश्य को सांसारिक रूप देना, और धर्म-गुरुओं और उपदेशकों द्वारा बताये गये शारीरिक अभ्यास और औपचारिक विधियाँ इस सिलसिले में शायद ही उपयोगी हों। उलटे वे हमारे पवित्र हेतु में बाधक होते हैं। स्थूलतर साधनों से सूक्ष्मतम सत्ता की अनुभूति प्रायः असम्भव है। इसीलिए हमारी आध्यात्मिक साधना में, अपने वर्तमान रूप में धर्म हमारी शायद ही सहायता कर सके।

आध्यात्मिकता

धार्मिक उलझनों के अति जड़कारी प्रभावों से मुक्त आध्यात्मिकता ही हमारा एक मात्र सहारा है। वह सारे अन्ध-विश्वासों, पूर्वाग्रहों और जटिलताओं से परे हैं। यह एक मात्र मार्ग है जो मनुष्य को उसकी अभीष्ट सूक्ष्म अवस्था तक पहुँचा सकता है। वस्तुतः वह आत्म-भाव के अनावृत होने की प्रक्रिया है। इसका अर्थ है उन सब आवरणों का हटाया जाना, जो सच्चे आत्म-भाव को बन्धन में रखते हैं। अस्तित्व की वर्तमान जड़-तम अवस्था में सूक्ष्मता की चरम अवस्था तक हमारी दौड़ ही सच्चे अर्थ में अध्यात्म का सार-तत्त्व है। पर दुर्भाग्यवश इस विषय को विभिन्न प्रकार से इतना गलत समझाया गया है

कि इसका वास्तविक आशय विस्मृत हो गया है। सामान्यतः भ्रमवश इसे धर्म मान लिया जाता है, या जड़कारी प्रभावों वाला धर्म अध्यात्म समझा जाता है। धार्मिक आस्थाओं पर आधारित प्रत्येक वस्तु, 'परम आदर्श' की अतिस्थूल संकल्पना, पूजा की यांत्रिक विधियाँ, शारीरिक अभ्यास, कर्मकांड और दूसरी औपचारिकताएँ—सब अध्यात्म से सम्बद्ध माने जाते हैं। इतना ही नहीं, सांसारिकता के तल पर विचार-शक्ति का प्रयोग, सम्मोहन द्वारा रोगों की चिकित्सा और भूतों तथा सूक्ष्म शरीरी आत्माओं की रहस्यपूर्ण क्रियायें भी अध्यात्म मान ली जाती हैं। इस तरह धर्म के समान अध्यात्म एक रहस्य हो गया है जिसने लोगों को भ्रम में डाल दिया है। ऐसा उन अभ्यास-शून्य गुरुओं के शब्दाडम्बर भरे प्रवचनों के कारण है, जिनकी खुद तो वहाँ तक पहुँच है नहीं, पर जो लोगों पर अपने पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित मतों और विश्वासों मात्र को लादते हैं और उन्हें व्यावहारिकता की हल्की हवा में साँस नहीं लेने देते। इसलिए यह सब मनुष्य में केवल जड़ता, अपारदर्शिता और सघनता भरती हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के लिए विष मात्र है। अतः जैसा होना चाहिये उसके विपरीत, हम और हल्के और सूक्ष्म होने के स्थान पर अधिक जड़ और सघन होते जाते हैं। इस तरह, सूक्ष्मता की शुद्धतर अवस्थाओं की ओर हमारी यात्रा अवरुद्ध हो जाती है और हम सदा के लिए सांसारिकता के जड़तर क्षेत्र में अटक जाते हैं। इसलिए सूक्ष्मतम

अवस्था की प्राप्ति के लिए स्थूल विचारों और विधियो का त्याग और सूक्ष्मतम विधियों का अनुसरण आवश्यक है।

अपरिमार्जित विधियाँ

पर यह सम्भव है कि एक दम प्रारम्भ में कुछ ऐसे अवसर आयें जब ऊपर लिखे सिद्धान्त को कड़ाई से लागू न किया जा सके। ऐसे मामले उन अविकसित और असंस्कृत मन वाले लोगों के हो सकते हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में सूक्ष्मतर धारणाओं को ग्रहण करने में सर्वथा अक्षम हों। इन्हें आमतौर पर मूढ़ कहा जाता है। ऐसे लोगों के लिए कुछ समय तक अधिक स्थूल धारणाओं को अपनाने की छूट दी जा सकती है, पर उनके जड़कारी प्रभावों को यथासम्भव अधिकाधिक सीमा तक कम करने की सारी आवश्यक सावधानी के साथ। उदाहरण के लिए, यदि ऐसे किसी मामले में मूर्ति की पूजा शुरू में बताई जाती है तो सर्वशक्तिमान ईश्वर के भाव के साथ वैसा करने के लिए परामर्श देना चाहिए। अर्थात् अभ्यासी को यह याद रखना चाहिये कि जिस मूर्ति को वह पूजा कर रहा है वह ईश्वर का प्रतीक है, स्वयं ईश्वर नहीं। और उसके लिये यह अभ्यास भी पूरे जीवन का क्रम नहीं होना चाहिये। जैसे ही वह सूक्ष्मतर धारणाओं पर अपना चित्त स्थिर कर पाता है, उसे मूर्ति को छोड़ शुद्धतर विधियों को अपना लेना चाहिए। थोड़े में, अल्पकाल के लिए अभ्यास के लिए अपनाये गये साधनों के

ज़ड़कारी प्रभावों से बचने के लिए उसे बहुत सजग रहना चाहिए।

यही दशा जप, कीर्तन जैसी अन्य साधनाओं की है जिनके विषय में यह प्रचार किया जाता है कि वे ही वर्तमान युग—कलियुग—में मोक्ष पाने का एक मात्र साधन हैं। भगवान् के नाम, स्तोत्र या मंत्र का जप या पाठ केवल एक सीमा तक सहायक हो सकता है—जब वह ठीक विधि से, उसके असली आन्तरिक पक्ष पर ध्यान जमाते हुए, किया जाता है। लेकिन अधिकतर मामलों में तो शायद ही ऐसा होता है। सामान्यतः लोग इन अभ्यासों में स्वरमाधुरी के लय और तुक का मजा लेने और संगीत के आकर्षण से अधिक, और इसके पीछे की यथार्थता के लिए कम, लगे रहते हैं। इससे उत्पन्न स्पन्दनों से वे अन्तर में वे नहीं जुड़ते। इसलिए यह प्रक्रिया केवल वाह्य रह जाती है और इसका शुभ प्रभाव, जो थोड़ा बहुत भी रहता है, एक दम लुप्त हो जाता है। इस तरह हमारे प्रयोजन में सहायक होने के बदले, यह सारी प्रक्रिया हानिकारक हो जाती है और सूक्ष्मता की ओर हमारी प्रगति को अवरुद्ध करती है।

आदिदेश

जहाँ हमें अन्ततः पहुँचना है वह हमारा आदि देश है, जहाँ से चलते चलते हम अपनी वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुये हैं। इस सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव का मन्तव्य निम्नलिखित है:—

"हम जहाँ हैं, उसे जानते नहीं। हम जहाँ थे, वह बहुत थोड़ा याद है। क्या वही हमारे आदि देश की ओर संकेत नहीं है? यही वह लक्ष्य है जिसे हमें पहले अपनी संकल्प-शक्ति से, और फिर संकल्प और बुद्धि से, पूरा सम्बन्ध-विच्छेद करके, बेधना है। मान लो कि तुम उस मंजिल तक पहुँच गये, तब तुम्हें पता लग जायेगा कि तुम कहाँ हो। इससे यह संकेत मिलता है कि तुम्हें अपने प्रस्थान-बिन्दु या मूल का पता लग गया। सारी विविध क्रियाओं से केवल यही जानकारी मिलती है और इससे यह भी पता चलता है कि क्रियाशीलता सदा के लिए किसी वास्तविक केन्द्र में विलीन हो गयी है। मान लो ऐसा सभी शरीरधारी आत्माओं के सम्बन्ध में घटित होता है; तब तो सृष्टि समाप्त हो जायेगी और महाप्रलय आ जायेगा। केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तित क्रियाशीलता कुछ समय बाद पुनर्जीवित हो जायेगी। यह प्रकृति की एक दृश्य घटना है—'कुछ भी नष्ट नहीं होता, केवल रूपान्तरित होता है।' जब अवरोहण होता है, तो आरोहण होना ही चाहिए, क्योंकि शक्ति का स्रोत, जहाँ से निकलकर क्रियाशीलता नीचे आती है, वहीं कहीं रहता है। प्रारम्भ के बाद अंत, और अंत के बाद प्रारम्भ, होता ही है। क्रियाशीलता के पुनः जागृत होने पर लौटनेवाले पदार्थ फिर नीचे आने लगते हैं। प्रक्रिया क्या थी? सारभूत तत्त्व, पदार्थ, क्रियाशीलता–विद्यमान थे। विभिन्न शरीरों का

निर्माण होने लगा और मनुष्य अस्तित्व में आया। क्रियाशीलता हमारे सारे संस्कारों के साथ हमें यहाँ लायी। लेकिन चूँकि इसके पीछे एक प्रचंड ऊर्जा थी, इसके परिणाम फलीभूत हुए और आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न अपने प्रभाव की छाप छोड़ते हुए वे शरीर के विविध अंगों में स्थापित हुए। अब हम अपने खुद के अन्दर' गतिशील होते हैं। आत्मा सेनानायक की तरह काम करने लगती है, मन उदासीनवत् काम करता है और हृदय उन दोनों को संकेत देता है। विचार अपने क्षेत्र में उठते और सक्रिय होते हैं। सूक्ष्मता का निकटतमवर्ती केन्द्र प्रधान नियामक शक्ति के रूप में काम करता है और अपने क्षेत्र में शक्ति उत्पन्न करता है। ठीक यही, हर जीवन्त आत्मा में पायी जाने वाली अवस्था है लेकिन हमें यह भी पता लगाना है कि वस्तु कहाँ से जन्म लेती हैं। कारण कार्य संबंध की हम चिन्ता नहीं करते। हम केवल आत्मा के निकटतम क्रियाओं की चर्चा करते हैं। प्राचीन योगियों द्वारा खोज निकाली हुई इस अवस्था का वर्णन बर्बर हाथों द्वारा जला डाली गई पुस्तकों में किया गया था। पर अब आवश्यकता होने पर, यह बात प्रकाश में लायी गई है। हमें यह अनुसन्धान करना है कि मेरुदण्ड के स्नायु केन्द्रों की, अपने काम के लिए, कहाँ से ऊर्जा-पूर्ति होती रहती है। सृष्टि निर्माण का ईश्वर का आद्य विचार केन्द्र के चारों ओर व्याप्त था और यही

चित्सरोवर या प्रकृति की विचारोत्पादक यंत्रावली (मशीन) थी। मानवीय क्षेत्र में चित्सरोवर में विद्यमान होने पर भी यही क्रियाशीलता का स्रोत था। यही विचार का स्रोत, उद्गम स्थान, बिन्दु था। यदि हम किसी प्रकार विचारों को उपरमित करने में सफल हो जाते हैं तो क्रियाशीलता समाप्त हो जायेगी और मनुष्य एकदम जीवित शव हो जायेगा।"

इस प्रकार उस सूक्ष्म अवस्था में अपनी वापसी के लिए हमें ऐसे साधन और अभ्यास-विधि अपनाने होंगे जिनसे सूक्ष्मतम परिणाम मिलना सुनिश्चित है और जो हमें अपनी सत्ता की जड़ता से मुक्त करते हैं। सच्चे अभ्यासी का, जो इस मार्ग को निष्ठापूर्वक अपनाता है, सबसे अधिक बल इस बात पर होना चाहिए। इसलिए सुनिश्चिततम मार्ग वह है जो हमें विश्वासों और दृढ़ धारणाओं के अन्दर से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष बोध और यथार्थ अनुभव के अन्दर से गुज़ार कर, पूर्ण मुक्ति तक पहुँचावे। संक्षेप में विशुद्ध और बिना मिलावट वाली, आध्यात्मिक अवस्था ही सुनिश्चित सफलता दिलाने वाला साधन है। वह धर्म नहीं है, बल्कि उससे बहुत परे कुछ और है। यह अवस्था बिल्कुल सीधी-सादी और स्वाभाविक है और मनुष्य की समस्या का वस्तुतः एक मात्र समाधान है।

—:०:—

अध्याय ३

योग-विज्ञान

विभिन्न मत

योग ही आध्यात्मिक समुन्नति के उच्चतम स्तर तक पहुँचाने वाला एक मात्र मार्ग है। इसका नाम प्रायः हर कोई जानता है पर इसको ठीक अर्थ में समझने वाले बहुत थोड़े लोग हैं। यह सचमुच है क्या, इस सम्बन्ध में अनेक दुराशंकायें व्याप्त हैं। कुछ लोग इसे सिद्धियों के नाम से ज्ञात अति सामान्य शक्तियों तक पहुँचाने वाली रहस्यमयी विद्या समझते हैं। दूसरे लोग इसे आसन, प्राणायाम, आदि जैसे केवल शारीरिक व्यायाम मानते हैं जिसका आशय केवल स्वस्थ गठित देह का निर्माण है ताकि उसके द्वारा स्नायविक शक्ति और सहनशक्ति के असाधारण करिश्मों का प्रदर्शन किया जा सके। अन्य लोग इसे संकल्प शक्ति द्वारा असाधारण व्यापारों को प्रदर्शित करने या रोगों को ठीक करने वाली सम्मोहन विद्या के विकास का साधन मानते हैं। लेकिन योग का असली आशय क्या है, सही आधार और विधि क्या है, इसका सही ज्ञान लोगों को नहीं है। सत्यतः योग सीधे प्राकृतिक नियमों

पर आधारित एक महान आत्म-विज्ञान है । यह न धार्मिक नीतिवाद है न आत्म-क्षय । इसमें न जीवन से घृणा है न तापसिक पलायनवृत्ति । यह शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के निग्रह या विनाश का समर्थन नहीं करता । यह मानव जीवन के सभी पक्षों–नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, इत्यादि को समाविष्ट करता है । वस्तुतः यह मनुष्य का सच्चा स्वाभाविक जीवन है । यह अहंमन्य चेतना से दूर दैवी चेतना में स्थित रहते हुये जीने का एक विशुद्ध मार्ग निर्धारित करता है । यह सच्चे अर्थ में अस्तित्व को लेकर मानवी समस्या का पूर्ण समाधान उपस्थित करता है और बिना किसी भेदभाव या प्रतिबन्ध के, हर किसी को उपलब्ध है ।

यद्यपि यह साधना-मार्ग सरल और स्वाभाविक है, पर दुर्भाग्यवश इसे इतना रहस्यमय बना दिया गया है कि इसका वास्तविक महत्त्व प्रायः लुप्त हो गया है । तर्क और दर्शन के स्तर से इस विषय का विवेचन करने वाले अनभ्यस्त विचार-शास्त्रियों की अशुद्ध व्याख्याओं ने इसमें बहुत भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं । अधूरे ज्ञान के आधार पर विद्वान आचार्यों द्वारा लिखी हुई टीकाओं में इस विषय का विवेचन केवल अंशतः किया गया है पर प्रदर्शित किया गया है जैसे वह समग्र हो । इससे जटिलतायें इतनी बढ़ी हैं कि प्रायः कोई भी रहस्यमय, गुप्त निजी बात अब योग मानी जाने लगी है । इसी कारण जन-

साधारण काँटों पर लेटने या कुछ समय तक धरती के नीचे गड़े रहने जैसे साधारण करतबों को यौगिक उपलब्धियाँ मानने लगे हैं। आजकल अधिकांश लोगों की सामान्यतः ऐसी ही धारणायें हैं । ज्यादा अच्छी समझ वाले लोग भी योग को अत्यधिक निराशाजनक मानते हैं इसलिए कि इसमें कठोर तप, आत्मनिग्रह और साधना को लेकर अनेक अटपटी उलझने हैं जिनका साधारण जीवन क्रम से कोई मेल नहीं है । अतः योग जो परब्रह्म की अनुभूति का सबसे अधिक कारगर साधन है, इन अनेक भ्रान्तिकारी धारणाओं के कारण एक शारीरिक अभ्यास मात्र रह गया है जिसका लक्ष्य कुछ चमत्कारी शक्तियों या सिद्धियों को पाना है। इसलिए अध्यात्म के हितार्थ, सारी जटिलताओं और अशुद्ध धारणाओं को हटाकर, योग का सही विवेचन पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना बहुत आवश्यक हो गया है।

योग-विधियाँ

हम योग के अनेक रूपों की बात सुनते हैं जिनमें से अधिकांश एक दूसरे से एकदम भिन्न और कभी कभी परस्पर विरोधी या बेमेल लगते हैं। फिर भी उनमें से हर एक को पूर्ण योग कह कर प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार योग सचमुच क्या है और किसके लिए इसका प्रयोजन है, यह अधिकतर रहस्य बना रहता है । उदाहरण के लिए, जपयोग, तपयोग,

मन्त्रयोग, तन्त्रयोग, इत्यादि की चर्चा होती है। इनमें से प्रत्येक अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जो अधिकतर परब्रह्म नहीं होता, विविध मतों और भिन्न साधनों को बताते हैं। फिर हमारे बीच कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग भी हैं, जिनमें से हर एक के विशिष्ट लक्षण हमें केवल वाह्य औपचारिकताओं तक पहुँचाते हैं। इनके आगे, ध्यानयोग, लय-योग, समाधि-योग कुंडलिनी-योग और क्या क्या हैं। संक्षेप में, शारीरिक, सांसारिक, गुप्त या गुह्य किसी आशय से अपनाये गये किसी भी मार्ग को योग घोषित किया जाता है। सच्चे जिज्ञासु को यह सब बहुत चकरा देता है और इसीलिए वह यह निर्णय करने में असमर्थ हो जाता है कि योग सत्यतः है क्या और विविध प्रकार के योगों में से कौन सा सही और उसके प्रयोजन के लिए सबसे उपयुक्त है। योग का वास्तविक अभिप्राय तो रहस्यों में लुप्त हो गया है। अब तो स्वार्थी गुरु, लोगों को जो कुछ भी बता देते हैं उसे वे सच मान कर निर्विरोध उसका अनुसरण करते हैं।

सच तो यह है कि योग बहुत पुराना है और सन्तों और ऋषियों ने पतञ्जलि के योगशास्त्र के प्रवर्तन के पूर्व इसको अपना रखा था। योग की चर्चा तो उपनिषदों में भी मिलती है। पर उस काल में इस विषय का सांगोपांग विवेचन नहीं हुआ था। अतः उपासना-विधियाँ गुरुओं की अपनी समझ और

अनुभवों पर आधारित होती थीं और वे गुरु से शिष्य को, हृदय से हृदय को, हस्तान्तरित होती रहीं। पर विशिष्ट दशाओं में दृष्किोण के स्तर में अन्तर के कारण व्यक्ति, व्यक्ति के अनुभवों में भी अन्तर होता था। इस तरह एक गुरु की शिक्षा या उपदेश दूसरे की शिक्षा या उपदेश से भिन्न होते थे। यही सब योग के सामान्य नाम से ज्ञात, विभिन्न पद्धतियों के रूप में विकसित हो गया। हम तक आई हुई योग की अनेक पद्धतियों के प्रचलन की यही कैफ़ियत हो सकती है। जैसे हाथी का सही स्वरूप जानने के इच्छुक कुछ अन्धे लोगों ने कुछ आंशिक अनुमान लगाये थे, उसी प्रकार विभिन्न पद्धतियों के रूप में घोषित योग के ये सारे वर्गीकरण आंशिक अनुमान हैं। हाथी उन अंधों की अवधारणा से परे था; अतः उनमें से प्रत्येक ने उसे उस अंग के सदृश मान लिया जिससे उसका सम्पर्क हुआ, यानी रस्सी, साँप, पंखे या खंभे के समान। ऐसी स्थिति में इन आंशिक अनुमानों के कारण योग विविध रूपों और प्रकारों में चित्रित हुआ है। इसके इतनी रहस्यमयता का कारण ये प्रारम्भिक भूलें हैं।

पतंजलि की पद्धति

इन जटिलताओं को दूर करने की दृष्टि से, महर्षि पतंजलि ने उस समय प्रचलित सभी विभिन्न पद्धतियों को समन्वित कर योग का एक समेकित रूप प्रस्तुत करने का अद्भुत प्रयास

किया। उनके द्वारा समझाई पद्धति, बिना उपसर्ग या प्रत्यय के केवल 'योग' के नाम से जानी जाती है। विभिन्न नामों और रूपों वाली समस्त पद्धतियों के सभी मौलिक लक्षण उसमें समाविष्ट हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान उसके मौलिक लक्षण हैं; जप तप आदि, अलग-अलग स्थिति में अभ्यासी की आवश्यकता के अनुसार उपदिष्ट साधन या अभ्यास-विधियाँ हैं, और लय, समाधि, इत्यादि का सम्बन्ध अंत के परिणाम से है। इस तरह यह प्रायः हर पक्ष से परिपूर्ण और आदि से अंत तक अभ्यासी के चरम प्रयोजन के लिए उपयुक्त एक व्यवस्थित अभ्यास-क्रम है। योग के सम्बन्ध में बात करते हुए मेरा आशय योग के केवल इसी रूप से रहेगा, अन्य किन्ही उपविधियों से नहीं।

दो अनुभाग

पर पतंजलि द्वारा बताये योग को दो अनुभागों—हठयोग और राजयोग—में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि व्याख्याता (पतंजलि) स्वयं ऐसा कोई भेद नहीं करते हैं, न कहीं वे इन दोनों नामों की चर्चा ही करते हैं। हठयोग का सम्बन्ध योग के शारीरिक पक्ष से है और उसमें शरीर और मन की क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले शारीरिक अभ्यासों का वर्णन है। राजयोग का सम्बन्ध केवल विशुद्ध साधना से है और इसमें आत्मा-सम्बन्धी शुद्धतर अनुभवों का वर्णन है। पतंजलि की पद्धति में हठयोग, प्रधान साधना अर्थात् राजयोग

की अपरिहार्य पूर्वभूमिका माना गया है। पर हठयोग पद्धति के अन्तर्गत जिन कठोर नियमों का पालन अनिवार्य है वे आधुनिक जीवन के सामान्य क्रम से मेल नहीं खाते। इसलिए सांसारिक जीवन और यौगिक जीवन एक दूसरे से सर्वथा भिन्न दो विकल्प मान लिये गये। यह निःसन्देह भारी भ्रमकारी धारणा है। वास्तव में, इस उद्देश्य के लिए जीवन का केवल रूपान्तरण आवश्यक है जिससे हमारा सांसारिक जीवन यौगिक जीवन में बदल जाय। इसका अर्थ है दो प्रकार के जीवन का समन्वय। पर दुर्भाग्यवश इस अत्यन्त महत्वपूर्ण बिन्दु पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है, जिससे सामान्य जन के साधारण जीवन में योग संभाव्य और व्यवहार्य हो पाता। संभव है कि जिनके विषय में आवश्यक समझा जाता है उनके लिए हठयोग, जहाँ तक शरीर और मन के संयमन की बात है, मुख्य साधना के लिए प्रारम्भिक कदम हो। पर हर विषय में, हर स्थिति में इसका अन्धाधुन्ध पूरे ब्योरे से पालन करवाना हठपूर्ण पूर्वाग्रह के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है। यदि हठयोग का एक मात्र प्रयोजन मन और इन्द्रियों का निग्रह और दमन है जिससे उनकी सामान्य कार्य क्षमता समाप्त हो जाय, तो यह निश्चयतः अस्वाभाविक अभ्यास-क्रम है और हमारे मुख्य प्रयोजन के लिए बहुत हानिकर है।

योग और सांसारिक जीवन

जहाँ तक साधारण सांसारिक जीवन में योग की व्यवहारिकता का प्रश्न है, प्रायः हर कोई लगातार यह सुनते-सुनते आजिज आ गया है कि सामान्य गृहस्थ जीवन में यौगिक साधना असंभव और अव्यवहार्य है और इसलिये उच्चतर दिव्य उपलब्धियाँ साधारण जन के लिए तब तक संभव नहीं हैं जब तक वे सांसारिक जीवन का त्याग न कर दें; स्त्री, संतान और संबंधियों से बिदा न ले लें और साधु का गेरुआ वस्त्र धारण न कर लें। ऊँची कीर्ति और पक्की सर्वोपरिता वाले लोगों द्वारा भी, प्रायः प्रत्येक मंच से इसी बात का उपदेश दिया जाता है। निःसन्देह सांसारिक विषयों में अत्यधिक आसक्ति आध्यात्मिक साधना में अवरोध है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सांसारिक जीवन के त्याग और संतान एवं सगे सम्बन्धियों को बेसहारा छोड़ने से मनुष्य को निश्चयतः आसक्ति से छुटकारा मिल जाता है। उलटे उदाहरणों से भली भाँति प्रमाणित होता है कि ऐसा शायद ही कभी होता है। अपने को त्यागी बताने वाले इन साधुओं में से किसी के सामान्य जीवन की थोड़ी जाँच से साफ पता लग जाता है कि गेरुआ वेष में होने पर भी वह किसी गृहस्थ के जितना ही या कदाचित् अधिक मात्रा में सांसारिकता में सराबोर है। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग आत्मप्रेम, आत्मानुरंजन, उद्दंडता, अहंकार जैसे अधिक गम्भीर दोषों से संयुक्त,

हो जाते हैं जो आध्यात्मिक जीवन के लिए अतिघातक विष हैं और जिनसे एक गृहस्थ काफी दूर रहता है। इस तरह जहाँ तक मन की आन्तरिक अवस्था का सम्बन्ध है, वे लोग सरल स्वभाव वाले गृहस्थ से, जो विविध प्रकार से अपना उत्तर-दायित्व निबाहने के लिए अथक प्रयत्न करता है, कहीं बदतर हैं। संक्षेप में हमारी वास्तविक समस्या अतिशय आसक्ति (माया मोह) को जीतना है, जिसके लिए वाह्य साधनों द्वारा लादी गयी निरासक्ति कोई समाधान नहीं हैं। इस भावना का सम्बन्ध सीधे मन की वृत्तियों से है। इसके लिए हमें मन के समुचित नियन्त्रण पर ध्यान देना है ताकि उसे गुमराह वृत्ति से छुड़ाया जा सके। अगर ऐसा हो जाय, तो सब कुछ स्वतः ठीक हो जायेगा और सम्पूर्ण सांसारिक विषयों से सम्बद्ध सांसारिक जीवन बिताते हुए भी व्यक्ति अतिशय आसक्ति से पूर्णतः मुक्त रहेगा।

ब्रह्मचर्य

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य के विवेकशून्य ढंग से मनवाने से है, क्योंकि ब्रह्मचर्य को यौगिक साधना के लिए मार्मिक रूप से आवश्यक घोषित किया जाता है। पर ब्रह्मचर्य की वास्तविक परिभाषा सामान्यतः बिन बताये रह जाती है। साधारण अर्थ में यह यौन जीवन का पूर्ण उपराम और स्त्री-पुरुष का अलगाव माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रचारक इसी व्याख्या को लोगों के सामने रखते हैं। न केवल

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रत्युत मानव जीवन के सभी पक्षों में, ब्रह्मचर्य का महत्त्व कभी कम करके नहीं आँका जा सकता। फिर भी उसके पालन के लिए सामान्यतः जितना आग्रह किया जाता है वह औचित्य की सीमा से कहीं अधिक है। ब्रह्मचर्य की सामान्यतः स्वीकृत धारणा यौन सम्बन्धों से पूर्ण विरति है। इस अर्थ में जीवन की सभी अवस्थाओं में इसका एक सा पालन निश्चयतः गलत और अस्वाभविक है। स्त्री और पुरुष दोनों प्रकृति की आवश्यकता हैं और बिना मतलब उनकी सृष्टि नहीं हुई है। इस तरह नियमों के अन्तर्गत उद्घोषित स्त्री-पुरुषों का पूरा पृथक्करण दैवी नियम की खुली अवहेलना है और इसलिये सामाजिक और नैतिक आधार पर पूर्णतः अन्याय्य है।

सही अर्थ में, ब्रह्मचर्य शब्द का आशय है पूर्ण अनुशासन और स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में नियमित मर्यादा; ऐन्द्रिक सुखों की लिप्सा से उत्पन्न दुरुपयोग और अपव्यय से दूर रहना। यदि इन सब पर काबू पाया जा सके, तो दाम्पत्य सम्बन्ध एक पवित्र बन्धन का रूप ले लेता है, जिसकी सृष्टि दैवी कर्त्तव्य के यथोचित पालनार्थ होती है। साधारणतः लोग इसे असम्भव मानते हैं और समझते हैं कि यौनिक भोग से रहित दाम्पत्य सम्बन्ध का निर्वाह उतना ही असम्भव है जितना दो छोरों को एक साथ करना। पर वास्तव में ऐसा है नहीं।

वस्तुतः यह मन के सही प्रशिक्षण और उचित नियमन पर निर्भर करता है क्योंकि यदि मन पूर्णतः अनुशासित हो जाय तो वह जीवन के प्रत्येक पक्ष में सर्वतोमुखी व्यवस्था ले आवेगा।

निःसन्देह जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार, ब्रह्मचर्य के स्वरूप का भिन्न होना अनिवार्य है। जीवन की आरम्भिक अवस्था में, जो वर्धन और विकास की बेला होती है और जो ज्ञान और आत्मसंयम के लिए निर्दिष्ट रहती है, स्त्री-पुरुष के मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण पृथक्करण का कड़ाई से पालन होना चाहिये। इसका अर्थ है यौनिक भावना का यथावत् अर्थ में पूर्ण परिवर्जन[1]। पर इसके परवर्ती काल में, जो सांसारिक कार्य-कलापों के लिए निर्दिष्ट है, ब्रह्मचर्य के नियम अनिवार्यतः भिन्न होने चाहिए जिससे दैवी कर्त्तव्यों के यथावत् पालनार्थ, सांसारिक जीवन की यथोचित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इस काल में दाम्पत्य सम्बन्ध नियम में संशोधन माँगता है। लेकिन इसे प्राकृतिक प्रेरणा की उचित प्रतिक्रिया या तत्सम्बद्ध कर्त्तव्यों के यथावत् पालन से जुड़ी समुचित सीमाओं के अन्दर कठोरता से सीमित रखना चाहिए। ऐसी परिस्थितियों में अपने सांसारिक जीवन में एक विवाहित व्यक्ति भी सच्चे अर्थ में ब्रह्मचारी होने का दावा कर सकता

१. Abstinence

है। इस प्रकार, यौगिक साधना में बाधक दाम्पत्य नहीं, अपितु केवल इसका दुरुपयोग और जीवन-यापन तथा सामान्य आचरण के गलत ढंग हैं, इन्हीं को सुधारने की आवश्यकता है। वास्तव में योग के अनभिज्ञ शिक्षकों ने धर्म के देवता के रूप में अपना उच्च पद बनाये रखने के लिए, वैराग्य और ब्रह्मचर्य की दो भयावह विभीषिकायें खड़ी कर रक्खी हैं ताकि सामान्य जन डर के मारे इस मार्ग के पास तक न फटकें।

(१) योग के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ

साधन-चतुष्टय

वेदान्त-मत में प्रदिष्ट योग के चार साधन विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षत्व हैं। इन चारों को बहुत महत्त्व दिया जाता है और अभ्यासी को अपने अभ्यास-क्रम में इन सब का यथा-क्रम अभ्यास करना पड़ता है। वेदान्त मत के अनुसार योगाभ्यास का आरम्भ विवेक अर्थात् यथार्थ और मिथ्या के विभेदीकरण से होना चाहिए। पदार्थों के भौतिक रूप, परिवर्तन और विघटन के अधीन हैं, इसलिए उन्हें मिथ्या माना जाता है। अपने अन्दर विद्यमान सारी वस्तुओं के सहित विश्व मिथ्या और भ्रमोत्पादक समझा जाता है। केवल अपरिवर्तनशील और नित्य ब्रह्म ही मूल में स्थित सत्य है। निसन्देह साधना के लिए यह बोध आवश्यक है और कोई इसे नकार नहीं सकता। पर इसे साधना

या मौलिक साधन मानना भारी भूल होगी। इसका परिणाम होगा, केवल इसके प्रदर्शन के लिए बहुत ठोस शारीरिक आरोपण, जिसका मन पर तनिक भी प्रभाव नहीं होता। विवेक का सही आशय मन को उस आन्तरिक भावना से है जिसके माध्यम से भौतिक रूपों के सम्बन्ध में जीवन का वास्तविक मूल्य हमारे परिज्ञान[१] में आता है। पदार्थ को लेकर मनुष्य की जिज्ञासा अपरिहार्य है। स्थूल भौतिक रूप, जिनमें 'पदार्थ' प्रकट होता है, मनुष्य के अस्तित्व से इतन अधिक परस्पर सम्बन्धित रहते हैं कि शरीर के रहते किसी भी दशा में उनसे नहीं बचा जा सकता। अपने शारीरिक स्वरूप पर अत्यधिक ध्यान सारी उलझने पैदा करने वाली मूल बुराई है। केवल इसी के कारण भौतिक विषयों में हमारी आसक्ति इतनी गहरी होती जाती है कि जिनसे हम सम्बद्ध हैं उन चीज़ों की नश्वर प्रकृति का भी हमें विस्मरण हो जाता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लगने के कारण शरीर वास्तविक प्रतीत होने लगता है और इससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु भी बहुत मूल्यवान हो जाती है। इस प्रकार समस्त पार्थिव अभिव्यक्ति के मूल में स्थित अपरिवर्तनशील नित्य ब्रह्म मन की समस्त क्रियाओं के बीच विस्मृत और वस्तुतः उपेक्षित हो जाता है। विवेक शब्द का वास्तविक आशय वस्तुओं के भौतिक अस्तित्व की अस्थिरता का बोध है। इसी को सर्वप्रथम जागृत

१. Cognizance

करना है, इसी की उपलब्धि के लिए उपयुक्त साधन खोज निकालने हैं। इस तरह विवेक स्वतः में कोई साधना नहीं है बल्कि कुछ साधनाओं का प्रतिफल है।

जब मन में यह बोध जागृत हो जाता है और वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है तो सृष्टि का सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब स्वभावतः पदार्थों में, जिनसे अभ्यासी घिरा रहता है और जिनकी नश्वरता का ज्ञान उसके मन में दृढ़ हुआ रहता है, उसकी रुचि नहीं रहती, उनसे वह बहुत विमुख हो जाता है। हर वस्तु का आकर्षण तब समाप्त हो जाता है और वह एक सीमा तक आसक्ति से मुक्त हो जाता है। यही सच्चे अर्थ में वैराग्य का प्रारम्भ है। यह विवेक का सीधा प्रतिफल है और हृदय के आन्तरिक भाव से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यह किसी भी दशा में योग की साधना नहीं हो सकती।

वैराग्य न सांसारिक सम्बन्धों से सन्यासी की तरह दूर रहना है, न सब कुछ का त्याग करते हुए सांसारिक सम्पत्ति से घृणा है। वैराग्य की ऐसी लोक प्रचलित व्याख्या सर्वथा भ्रान्त धारणाओं पर आधारित है। साधना में असली बाधा सम्पत्ति से नहीं, उसके आकर्षण के कारण होती है। वह आकर्षण सम्पत्ति के ऐन्द्रिक सुखों का कारण होने से होता है। भौतिक अहं को लेकर सांसारिक पदार्थों में अत्यधिक आसक्ति वस्तुतः मौलिक बुराई है जो हमारी सारी उलझनों के लिए उत्तरदायी है। ये

उलझनें अन्ततः मन को सत्य से विमुख करती हैं। सच्चे अर्थ में वैराग्य न शारीरिक निर्लिप्तता है न अपरिग्रह या उसी तरह का और कुछ है, बल्कि वह तो जीवन में कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक पदार्थों के प्रति नितान्त अनासक्ति या उदासीनता है।

इसलिये सहज मार्ग विवेक और वैराग्य को स्वयं में साधना न मान कर किन्हीं साधनाओं के निरन्तर अभ्यास का प्रतिफल मानता है। इसलिये सहज मार्ग षट्सम्पत्ति से साधना का आरम्भ करता है। षट्सम्पत्ति वेदान्तियों की तृतोय साधना है और छः विभिन्न प्रकार से मन की वृत्तियों का संयमन करने से सम्बन्ध रखती है। इनमें से सबसे पहली 'शम' का सम्बन्ध मनोनिग्रह से है और वही यौगिक साधना में पहला कदम है। दूसरी 'दम', इन्द्रियों के दमन से प्रयोजन रखती है। तीसरी 'उपरति' आत्म-संवरण है, चौथी 'तितिक्षा' सहनशीलता की अवस्था है, पाँचवीं 'श्रद्धा' पक्का विश्वास और छठी 'समाधान' आत्मतृप्ति की अवस्था है। पर यहाँ पर भी सहज मार्ग पुरानी लकीर से हट कर चलता है। वह इस साधना के विविध अंगों को एक दूसरे से पृथक नहीं मानता। वस्तुतः वे सब एक हैं, केवल वाह्य पक्षों में उनमें भेद है।

इनमें से सर्वाधिक महत्त्व मन के निग्रह का है। जब वह सिद्ध हो जाता है तब वह अन्य प्रवृत्तियों को भी तदनुरूप प्रभा-

वित करता है। इस प्रकार इन्द्रिय-दमन, आत्मसंवरण इत्यादि स्वतः, स्वाभाविक क्रम में, उसके पीछे-पीछे सिद्ध हो जाते हैं। वास्तव में मन का निग्रह इन सब को समाविष्ट करता है और सारी वृत्तियों को अनुशासित करते हुए सर्वतोमुखी प्रभाव उत्पन्न करता है। इसलिये षट्सम्पत्ति से साधना का अभ्यास आरम्भ करने में हम केवल मनोनिग्रह को ध्यान में रखते हैं, और पक्षों को मनोनिग्रह के बाद स्वाभाविक प्रतिफल के रूप में आने के लिए छोड़ देते हैं। और इसके लिए सहज मार्ग में निर्धारित साधना भी एक ही है—हृदय पर ध्यान।

अष्टांग योग

पतंजलि-विहित सामान्य अभ्यास अष्टांग योग है—अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। प्राचीन मत के अनुसार वे अभ्यासी के लिए समाधि नामक सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के लिए एक के बाद एक सीढ़ी के डंडे थे। इस अर्थ में योग के सफल अभ्यास के लिए पतंजलि का अष्टांग योग अपरिहार्य साधन माना जाता है।

पर यदि हम इन सारे कदमों का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि प्रथम पाँच—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का सम्बन्ध योग के केवल शारीरिक पक्ष से है और वे शरीर के स्वास्थ्य और गठन के प्राप्त्यर्थ शारीरिक व्यायामों

तक सीमित हैं। अन्तिम तीन कदम—धारणा, ध्यान और समाधि—अन्तरंग साधना या सच्चा योग हैं। 'धारणा' ध्यान के लिये गृहीत एक विशिष्ट बिन्दु या विचार पर एकाग्रता की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है और इस प्रकार ध्यान की प्रारंभिक अवस्था है। इसकी समाधि-दशा के रूप में व्याख्या सरासर गलत है और लोगों को इस भ्रांति में डालने का कारण है कि एकाग्रता ध्यान का प्रारम्भिक लक्षण है। यह बात अधिक स्पष्ट होगी यदि हम समग्र प्रक्रिया का उसके स्वाभाविक क्रम से विश्लेषण करें। हम ध्यान से प्रारम्भ करते हैं। पहले हम ध्यान के लिए स्वीकृत एक बिन्दु पर मन को स्थिर करते हैं। धारणा से यही अभिप्रेत है। तदनंतर हम उस पर अनवरुद्ध चिन्तन करने लगते हैं। जब हम ज्ञानपूर्वक या अचेत उस विचार में डूब जाते हैं, वही समाधि अवस्था हैं। इस प्रकार एकाग्रता, एकाग्रता की स्थिरता और तल्लीनता तीन स्वाभाविक अवस्थायें हैं जो ध्यान करते समय, सामान्य क्रम से, एक के बाद एक आती हैं। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धारणा, ध्यान और समाधि, योग के तीन विभिन्न कदम होने के बजाय, जिनका एक दूसरे के बाद अभ्यास होता है, अकेली ध्यान-प्रक्रिया की ही तीन अवस्थायें हैं। ध्यान का आरम्भ धारणा से होता है और अन्त समाधि में। इसलिए समाधि ध्यान का सीधा प्रतिफल है, प्राथमिक लक्षण नहीं। अतः ध्यान के अभ्यास

के एकदम शुरू में ही समाधिस्थ होने की कोशिश करना गलत होगा क्योंकि उस दशा में मन के दमन के लिए शारीरिक बल का प्रयोग करना पड़ेगा। इससे अन्ततः आन्तरिक जड़ता आवेगी, जो अपने सही आशय से दूर ले जाती है।

सामान्यतः स्वीकृत अष्टांग योग की क्रिया के मुख्यतः दो भाग हैं—हठयोग और राजयोग। पर दुर्भाग्यवश अभ्यास-विधि की एक एक बात के यन्त्रवत पालन को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि वास्तविक प्रयोजन विस्मृत हो जाता है और लोग जीवन भर केवल आसन प्राणायाम में लगे रहते हैं। उन्हीं में अभ्यासी लगा रहता है, अपनी शारीरिक उपलब्धियो पर गर्व अनुभव करता है, पर सच्चे अर्थ में तो वह योग के यथार्थ भाव से पहिले जितना ही दूर रहता है। बिना वास्तविक प्रयोजन ध्यान में रखे, किसी अभ्यास का कड़ाई के साथ पालन, किसी मतलब का नहीं होता और कई बार तो सच्ची साधना के लिए बहुत हानिकर होता है। चाहिये तो यह कि अपने वास्तविक लक्ष्य को मजबूती से पकड़े रहें और उसके लिए उपलब्ध सर्वोत्तम साधन को छाँट कर आजमायें। ऐसा करने में यदि बँधी बँधाई विधि से थोड़ा हटना भी पड़ता है तो कोई हर्ज नहीं क्योंकि हमारा असली प्रयोजन तो लक्ष्य को प्राप्त करना है, एक निर्धारित विधि के अनुसरण की भद्रता दिखाना नहीं है। इसके अतिरिक्त यह मान लेना भयंकर भूल

होगी कि हजारों साल पहिले जो कुछ हमारे ऋषि बता गये हैं वही बस है और उससे अधिक या परे कुछ भी सम्भव या अवधारणीय नहीं है। उत्तरोत्तर अनुभव से ज्ञान और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन, संशोधन और सुधार प्रकाश में आये हैं। इसलिए पतंजलि के प्रति बिना किसी अवज्ञा के मैं कहना चाहता हूँ कि उनके योग-सिद्धान्त, विशेत: मानव जीवन के वर्तमान ढंगों के संदर्भ में, न्यायतः संशोधन और सुधार से एकदम परे नहीं माने जाने चाहिये। पर इस बात पर विस्तृत विवाद में न पड़कर विचाराधीन विषय से सीधे सम्बद्ध बातों तक अपने को सीमित रखता हूँ।

अष्टांग योग की क्रिया-विधि शरीर से प्रारम्भ होती है और अभिकेन्द्रीय क्रम से भौतिक तल से मानसिक तल की ओर बढ़ती है। स्वभावतः यह एक लम्बी और नीरस प्रक्रिया हो सकती है जो सम्भवतः पूरे जोवन में समाप्त न हो। इसी कारण से योग सामान्यतः जन्मान्तरों की साधना मानी जाती है। पर किसको इस जन्म के आगे का पता है? अन्तिम उपलब्धि इस प्रकार अनिश्चित रूप से स्थगित कर दी जाती है। इसलिए हमें इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके इसमें ऐसे संशोधन कर लेने चाहिये कि हमें इसी जीवन काल में लक्ष्य की प्राप्ति हो जाये।

सच्चे योग का सम्बन्ध अन्तःस्थित जीव से है जो सीधे

आत्मा से जुड़ा होता है। मन मनुष्य की केन्द्रीय शक्ति है, मनुष्य के भीतर बाहर जो कुछ है उस सब का वह नियन्त्रण करता है। इसलिए शरीर के माध्यम से जो कुछ अच्छा या बुरा होता है मूलतः मन से प्रारम्भ होता है। इसलिये शारीरिक कार्यों के समुचित संयमन के लिए मानसिक वृत्तियों का संशोधन आवश्यक है। इसका अर्थ है कि मन से शरीर की ओर का अपकेन्द्रीय[1] क्रम अपनाया जाय। यह स्वाभाविक और बहुत कारगर प्रक्रिया है। इसलिए सर्वप्रथम मन से जूझना चाहिये, शरीर से नहीं। इसका मतलब हुआ पहले कदम के रूप में मन का समुचित नियमन और शारीरिक नियन्त्रण को स्वाभाविक क्रम में स्वतः पीछे-पीछे आने के लिए छोड़ देना। इस संदर्भ में यह मान लेना ठीक ही होगा कि अष्टांग योग में निर्दिष्ट शारीरिक साधन हमारे काम के नहीं है, उलटे उनसे समय और शक्ति का बहुत अपव्यय होता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर सहज मार्ग यौगिक साधना के लिए अष्टांग योग की अनिवार्यता का समर्थन नहीं करता क्योंकि यह धारणा पूर्वाग्रही है। सहज मार्ग एक अधिक स्वाभाविक और कारगर क्रम को वरीयता देता है जिसमें शुरुआत मन के नियमन से होती है। इस प्रकार सहज मार्ग का प्रारम्भ ध्यान से होता है जो राजयोग का आधारभूत बिन्दु है, इस

१. Centrifugal

साधना से हठयोग का अभ्यास निकाल दिया जाता है। अंतिम तीन सोपान भी मूलतः ध्यान की विभिन्न अवस्थायें होने से ध्यान की अकेली प्रक्रिया मान लिये जाते हैं। इस प्रकार अष्टांग योग के आठ अंगो में से केवल एक—ध्यान—बचता है। वही भौतिक, मानसिक, आत्मिक—सब कुछ को अपने में शामिल करता है और हर पहलू से कारगर है। इसलिए सहज मार्ग सारी अनावश्यक कल्पनाओं को हटा कर ध्यान पर अपने को सीमित कर लेता है और एक मात्र लक्ष्य—पर ब्रह्म के अनुभव—की प्राप्ति के लिए शुरू से अंत तक, उसी ध्यान-प्रक्रिया की अनुशंसा करता है।

संक्षेप में, सहजमार्ग योग के एक संशोधित अभ्यास-क्रम को उपस्थित करता है जिसको साधारण सांसारिक जीवन में अपनाया जा सकता है और जो जीवन की सभी परिस्थितियों और दशाओं में खप सकता है। ऐसा करते हुए, वह निठल्ले टीकाकारों और स्वार्थरत गुरुओं द्वारा लादी गयी सारी फालतू बातों का परित्याग करता है। केवल व्यावहारिक अनुभव से इस बात को जाँचा जा सकता है और अभ्यासी को इसकी क्षमता का पता लग सकता है।

वास्तविक प्रयोजन

योग का आश्रय जिस प्रयोजन से लिया जाता है उसे समझना कठिन नहीं है। सत्य के अनुभव की लालसा प्रत्येक हृदय

में रहती है, भले किसी को स्पष्ट रूप से इसकी जानकारी न हो। इस सहज वृत्ति की तृप्ति के लिए विभिन्न संप्रदाय विभिन्न साधनाओं को निर्दिष्ट करते हैं; पर उन सबके बावजूद, समस्या रहस्य बनी रहती है और इसके समाधान के लिए आतुरता कायम रहती है। इसके विभिन्न कारण हो सकते हैं। एक है उस प्रयोजन की स्पष्ट जानकारी जिसके लिए ये साधन अपनाये जाते हैं। योग पर यह विशेष रूप से लागू होती है। योग पर-ब्रह्म की अनुभूति का सबसे कारगर साधन होने का सही दावा कर सकता है। सही अर्थ में योग का यही एकमात्र प्रयोजन है। किन्तु परब्रह्म की अनुभूति के लिए (जो सूक्ष्मतम सत्ता है) व्यक्ति की स्थूलता का यथासम्भव त्याग आवश्यक है, जिससे प्रकृति से गहरी समनुरूपता में अस्तित्व का परम सूक्ष्म रूप प्राप्त हो सके। पर आजकल सामान्यतः जैसा देखने में आता है, योगाभ्यासी का असली प्रयोजन शक्ति की प्राप्ति है, सूक्ष्मता का विकास नहीं। यह एकदम गलत है क्योंकि जब अभ्यासी का ध्यान शक्ति पर रहता है तब योगाभ्यास से शक्ति बढ़ेगी, सूक्ष्मता नहीं। सूक्ष्मता की अपेक्षा शक्ति अधिक ठोस होती है। इसलिये शक्ति की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास, निस्सन्देह मार्ग से व्यतिक्रम है और योग का दरजा घटाने के बराबर है। योगसिद्धि से कुछ असाधरण शक्तियाँ तो प्राप्त होती हैं पर उनको साधना का लक्ष्य बनाना गलत और अहित-कर है। इस तरह प्राप्त शक्तियों के प्रयोग के विरुद्ध शास्त्रीय

आदेश इसी मत का समर्थन करते हैं। इस बात का सामान्यतः केवल भौतिक मामलों पर लागू होना माना जाता है। पर यह एकदम सही नहीं है। वस्तुतः अपनी विशुद्ध अवस्था में शक्ति तब तक सक्रिय नहीं होती जब तक पदार्थ से उसका संसर्ग नहीं होता। फलतः, शक्ति के प्रयोग के लिए व्यक्ति को उसी पार्थिव तल पर लौटना पड़ता है जहाँ से उसने यात्रा प्रारम्भ की थी। अतः अन्तिम लक्ष्य के रूप में यौगिक शक्तियों की प्राप्ति गलत और योग सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।

(२) स्नायुओं की यौगिक संरचना

स्नायु-तन्त्र

योगी के जीवन में स्नायु-तन्त्र की महत्त्वपूर्ण-भूमिका है। यह सारी संवेदनाओं और अनुभूतियों को वश में रखता है। स्नायुओं की क्रिया मन की क्रियाओं के अधीन रहती है क्योंकि मन ही मनुष्य में जीवनदायिनी शक्ति है। स्नायु-तन्त्र दो समूहों में बाँटा जाता है—स्वैरी[1] और अस्वैरी[2]। स्वैरी स्नायुओं पर संकल्प द्वारा या अभ्यासवश अधिकार पाया जा सकता है पर अवचेतन स्नायुओं की अस्वैरी क्रियायें अधिकार के बाहर होती हैं। योगसाधना में स्नायु-तन्त्र के इस इस भाग की

१: Voluntary २. Involuntary

महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है और इसके लिए योगी आसन प्राणायाम इत्यादि शारीरिक अभ्यासों का सहारा लेते हैं।

स्नायु-तन्त्र की संरचना अतिविशिष्ट सूक्ष्मदर्शीय कोशिकाओं से होती है। मस्तिष्क और मेरुदण्ड में एकत्रित कोशिकाओं से शरीर के प्रायः सारे ऊतकों[१] तक महीन स्नायु-तन्तु फैले रहते हैं। वे शरीर से मन और मन से शरीर तक आवेगों[२] को ले जाते हैं। यौगिक संरचना-शास्त्र दस महत्त्वपूर्ण आवेग-स्नायुओं (वायु-नाडियों) का विवेचन करते हैं। उनमें से तीन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे इडा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। इडा मेरुदण्ड के बाईं ओर स्थित है और दाहिने नथुने में समाप्त होती है। पिंगला दाहिनी ओर है और बायें नथुने में समाप्त होती हैं। इन संवेदनशील नाडियो की अनवरत क्रियाशीलता पर बोधपूर्वक अधिकार प्राप्त करके शरीर की चयोपचयात्मक[३] क्रियाओं को कम करना और ऊतकों के क्षय को स्थगित करना सम्भव है। ऐसा करने से आयु बढ़ती है। सुषुम्ना मेरुदण्ड के बीचों बीच स्थित है। यह कन्द या त्रिक[४] से प्रारम्भ होती है। त्रिक का तल प्रायः नाभितल के बराबर होता है। इस तल से यह सिर की तरफ चली जाती है और सहस्र-दल-कमल से जुड़ती है। कंठ तल (टेंटुए) पर सुषुम्ना दो भागों में बँट जाती

१. Tissues २: Impulses ३. Metabolic
४. Sacrum

है। आगे का भाग मस्तिष्क के अग्र भाग की ओर जाता है और पीछे का भाग मस्तिष्क-गुहा की ओर। योग में इस पीछे के भाग का बहुत महत्व है क्योंकि विकसित होने पर इसी का सारी संवेदनाओं पर प्रभुत्व रहता है।

चक्र या कमल

सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड की स्नायु-कोशिकाओं से जुड़ी होती है, वहाँ से स्नायु-तंतु सारे शरीर में फैले हुये हैं। मेरुदण्ड से आगे वे कई शाखाओं में बँट जाते हैं। वे एक दूसरे से संयुक्त होते हैं, जिससे शरीर के विविध भागों में स्थित चक्रों का निर्माण होता है। वे चक्र प्राणातीत शक्ति के मुख्य केन्द्र हैं और प्रतिरोध शक्ति बढ़ाने में विराम या अवरोध का काम करते हैं। प्रत्येक चक्र का किसी नाडो-समूह से सम्ब्रन्ध रहता है और वह उनकी अवचेतन क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। चक्रों से ही आध्यात्मिक विकास की अवस्थायें निर्धारित होती हैं। इसलिए इन चक्रों की अवचेतन क्रियाओं पर बोधपूर्वक अधिकार पाने के लिए योगी निरन्तर प्रयास करता रहता है। इसके लिए चक्रों की शुद्धि आवश्यक है जिससे तहों के रूप में उन पर जमी जड़ता हट जाये। इसलिए यह साधना का एक बहुत आवश्यक अंग है। जब चक्र पूरी तरह शुद्ध हो जाते हैं तब उनमें मूल प्रभा[1] लौट आती है और उनके प्रसुप्त द्रव्यगुण जागृत

१. Original glow

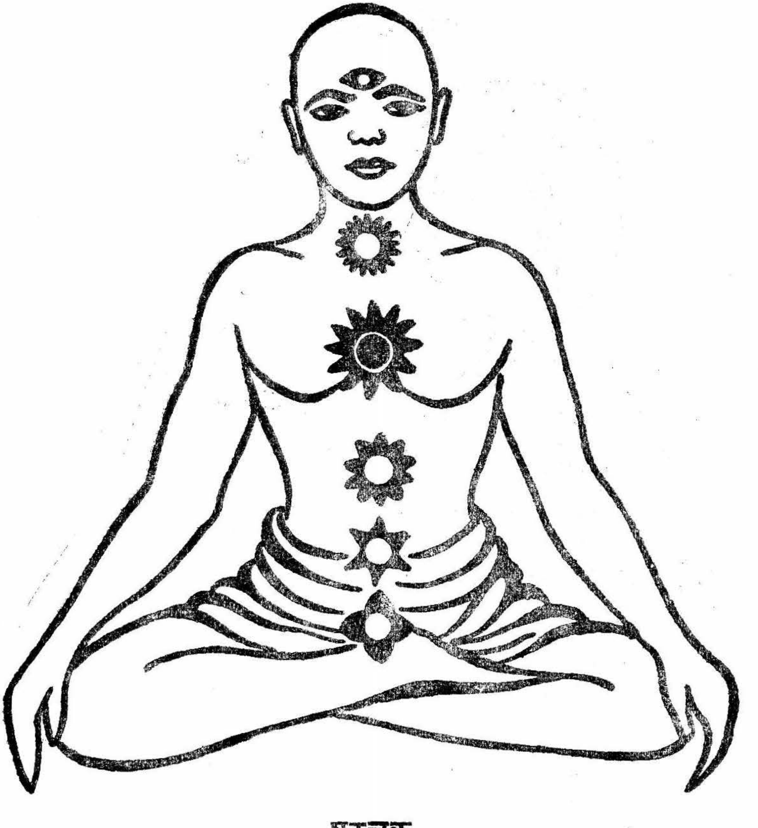

षट्चक्र

नीचे से :—

१. मूलाधार	२. स्वाधिष्ठान	३. मणिपूरक
४. अनाहत	५. विशुद्धि	६. आज्ञा

चक्रों के स्थान

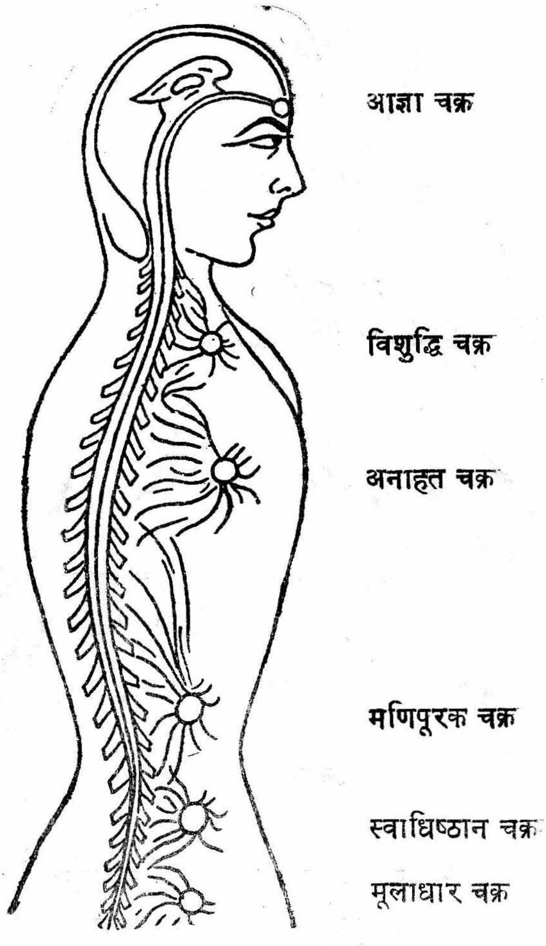

हो जाते हैं। यही 'चक्रों के जागरण' नाम से जाना जाता है। जागृत होने पर चक्र विशुद्ध अतीन्द्रिय चेतना की अवस्था की ओर हमारी यात्रा को सुगम बना देते हैं। पर यदि शारीरिक साधनों—आसन और प्राणायाम—से चक्र बलात् जागृत किये जाते हैं तब वास्तविक रूपान्तरण शायद ही घटित होता है और सूक्ष्मता के बदले केवल शक्ति विकसित होती है।

छः महत्वपूर्ण चक्र निम्नलिखित हैं :—

(१) मूलाधार चक्र	गुदाद्वार के समीप
(२) स्वाधिष्ठान चक्र	श्रोणि-प्रदेश[1] में जननेन्द्रिय मूल के तल पर
(३) मणिपूरक चक्र	नाभि प्रदेश में
(४) अनाहत चक्र	हृदय-प्रदेश में
(५) विशुद्धि चक्र	कण्ठ-प्रदेश में
(६) आज्ञा चक्र	नासिक मूल में दोनों भौहों के बीच

संशोधित अभ्यास-क्रम

प्राचीन अभ्यास-पद्धति में इन चक्रों को नीचे से ऊपर की ओर, क्रम से, लिया जाता था। सहज मार्ग पुरानी विधि से थोड़ा हट कर है। यह नीचे के तीन चक्रों को शुरू में छोड़ कर हृदय से प्रारम्भ करता है। हृदय मानवी शरीर-तन्त्र का केन्द्र है, वहीं

१. Pelvic region

से सारे शरीर में रक्त का संचरण होता हैं। यही इस संशोधन का हेतु है। इस बिन्दु पर ध्यान करने से, हृदय में प्रविष्ट पवित्रता और निष्ठा के सूक्ष्म परमाणु, यहाँ से प्रवाहित होने वाले रक्त के साथ, सारे शरीर में फैलते हैं। इस तरह सारे शरीर का शुद्धीकरण स्वतः और अनजाने होता रहता है। हृदय पर ध्यान की पद्धति का, योग के अन्य आचार्यों ने जिनमें पतञ्जलि भी हैं, समर्थन किया है। एकाग्र होने के लिए दूसरे और भी बिन्दु हैं पर वे उतने अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसलिए सहज मार्ग सबसे अधिक कारगर विधि होने के कारण हृदय पर ध्यान करने को बतलाता है। इस बिन्दु से हमारी यात्रा विशुद्धि और और आज्ञा चक्रों की ओर बढ़ती है। इसलिये छः में से तीन चक्रों को छोड़ कर, ऊपर के तीन चक्रों तक ही हमारी यात्रा सीमित रहती है। हृदय की शुद्धि के लिए अपनाई गयी विधि के प्रभाव से और हृदय से प्रवाहित, शोधित रक्त के संचरण से नीचे के तीन चक्रों की एक सीमा तक शुद्धि स्वतः हो जाती है। इन चक्रों की और अधिक शुद्धि जिससे वे पूर्णतः दीप्तिमान हो जायँ, साधना की इस अवस्था में, आवश्यक नहीं होती, इसीलिये वह लायी नहीं जाती। इनसे जागृत शक्तियाँ प्रधानतः पार्थिव होती हैं। उनके दुरुपयोग से बचने के लिए ऐसा किया जाता है। पर परिपक्वावस्था में, या सच्ची जरूरत में गुरु की प्रतिफलित शक्ति द्वारा वे स्वतः जागृत हो जाते हैं। पर ऐसा प्रायः

तभी होता है जब अभ्यासी को उच्चतर अवस्था में पहुँचने पर प्रकृति का कोई काम सौंपा जाता है। योग-पद्धति में इस संशोधन द्वारा, अभ्यास में आधे चक्रों के छूटने से, हमारा श्रम आधा हो जाता है। इस तरह अभ्यासी का बहुत श्रम और समय बच जाता है।

तन्त्र

योग में व्यक्ति शारीरिक तल से आरम्भ करता है और निर्दिष्ट विधियों का अनुसरण करते हुये आगे बढ़ता है। विभिन्न चक्रों को वह एक एक कर लेता है, वे शुद्ध और रूपान्तरित होते जाते हैं। रूपान्तरित होने पर उनके विशिष्ट द्रव्यगुण प्रकट होते हैं और उनकी स्वाभाविक क्रिया स्वतः होने लगती है। उनकी सहज वृत्ति परब्रह्म की ओर लगी रहती है। इन द्रव्यगुणों को सामान्यतः शक्ति समझा जाता है पर वस्तुतः वे शक्ति नहीं हैं क्योंकि अभी पार्थिव तल पर उनकी कोई अभि-व्यक्त भौतिक क्रिया नहीं होती। अभ्यासी का खुद उन पर ध्यान नहीं जाता, सामान्यतः उसे उनकी उपस्थिति की भी खबर नहीं रहती। वे हमारी सबोध जानकारी में तभी आते हैं जब उनका रुख पलट जाता है और वक्रता का निर्माण होने लगता है। वक्रता तभी बनती है, जैसा तन्त्र में होता है, जब अभ्यासी उन्हें शक्ति मान कर भौतिक प्रयोजनों के लिए उनके विकास के साधन और अभ्यास अपनाता है। शक्ति की धारणा

उसके प्रदर्शन और प्रयोग की गुप्त भावना को जन्म देती है। इसके लिए किसी पार्थिव आधार का होना आवश्यक है। इस प्रकार कालान्तर में यह वक्रता अभ्यासी को सूक्ष्मता के बहुत ऊँचे तल से उसी तल पर गिरा देती है जहाँ से उसने साधना प्रारम्भ की थी। सभी रहस्य विद्याओं और तांत्रिक साधनाओं का यही अन्त होता है। इसलिये तांत्रिक साधना को, अध्यात्म के क्षेत्र से बहुत दूर, सीधा साधा भौतिकवाद कहा जा सकता है। इन सभी दशाओं में, शक्ति का उपयोग प्रधान अभ्यास और सांसारिक लाभ मुख्य प्रयोजन हो जाते हैं। इससे अनेक असाधारण घटनाएँ होती हैं जिन्हें संकल्प शक्ति को काम में लाकर, स्वार्थमय प्रयोजन से, घटित किया जाता है।

सिद्धियाँ

यौगिक साधना में चक्रों की शुद्धि महत्वपूर्ण बात है। इन चक्रों के शुद्ध और रूपान्तरित होने पर उनके द्रव्यगुण प्रस्फुटित हो जाते हैं और उनकी सहज क्रिया स्वतः सम्पन्न होने लगती है। चक्रों से सम्बद्ध असाधरण शक्तियों की, अनेक अटपटे ढंगों से, गलत व्याख्या की जाती है जिससे अविश्वास उत्पन्न होता है। हर चक्र का कुछ विशेष शक्तियों से सम्बन्ध है जो उसके जागृत होते ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। पर शारीरिक उपायों से उन शक्तियों को बलपूर्वक जागृत करने का परिणाम सिद्धियों (चमत्कार दिखाने की क्षमता) की प्राप्ति है। ये सिद्धियाँ

सामान्यतः यौगिक उपलब्धियों की पक्की कसौटी मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए, पक्षी की तरह हवा में उड़ना, जल पर स्थल की तरह चलना, लहकती हुई आग के अन्दर अक्षत खड़े रहना—ये कुछ उपलब्धियाँ हैं जिनका सम्बन्ध चक्रों के जागरण से घोषित किया जाता है। पर ऐसे अस्पष्ट दावे परी-कथाओं या पशु-पक्षियों की कहानियों के समान देखने से ही अतिरंजित या काल्पनिक लगते हैं। उनके समर्थन में कोई व्यवहार-सिद्ध प्रमाण या अनुभव नहीं रहता। पर जो लोग असाधारण शक्तियों के प्रेमी हैं और अपने को सामान्यातीत व्यक्तियों के रूप में प्रदर्शित करना चाहते हैं, उन्हें ये सिद्धियाँ प्रलोभन दे सकती हैं। हो सकता है कि ऐसे दावों की तह में कोई आधारभूत सच्चाई हो जिसे ठीक से न समझा जा सका हो। पर जिस तरह ये जनसाधारण को समझाये जाते हैं वह तो सर्वथा अनुपयुक्त और भ्रामक है। उदाहरण के लिए, हवा में उड़ने का आशय प्राणी के घनत्व में कमी से हो सकता है। सूक्ष्मता की ओर उन्नति के रूप में योगी इसके लिए लगातार प्रयास करता ही रहता है। अधिक उन्नत अवस्थाओं में, हालत को हवा से भी हल्की कह कर बताया जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिए अभ्यासी को खुद अन्दर से उसी तरह हल्का होना आवश्यक है। इसको पक्षी के समान हवा में उड़ने की शक्ति बताना गलत और भ्रामक है।

निःसन्देह इन ओजस्वी नाडी-केन्द्रों के प्रकाशित होने से

कुछ असाधरण क्षमता विकसित हो ही जाती है, पर अभ्यासी की इसमें कोई विशेष रुचि नहीं रहती जब तक कि वह स्वयं अन्दर से इसकी ओर आकृष्ट नहीं होता और इसको शक्ति में रूपान्तरित करने के लिए अपना संकल्प और प्रयास नहीं लगाता। उस दशा में उसका मन केवल चमत्कारों में फँस जाता है और मुख्य उद्देश्य विस्मृत हो जाता है। तथा-कथित सिद्ध लोग इसी का दावा करते हैं और इसी का प्रदर्शन करते हैं, जिससे अपनी अनेक सांसारिक समस्याओं से पीड़ित मूर्ख साधारण जन उनकी ओर आकर्षित हो जायें। जिन्हें पुत्र चाहिये, किसी कष्ट से छुटकारा चाहिये या किसी स्वार्थपूर्ण कामना की पूर्ति चाहिए—ऐसे सभी लोगों को वे खुला निमन्त्रण देते हैं। अधिक उपयुक्त शब्दों में, इस तरह उन सबने अपनी अपनी दूकानें खोल रखी हैं। ऐसे लोग धन कमाने के चक्कर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। इसे वे अपना व्यवस्थित धंधा बना लेते हैं और उनको लाभ भी पर्याप्त होता है। यहाँ गुरुदेव से सम्बन्ध रखने वाली एक घटना की चर्चा करना असंगत न होगा। एक बार एक धनी व्यवसायी ने, जिसके विभिन्न स्थानों में स्थित बीस वाणिज्य-प्रतिष्ठान थे, अपने एक मित्र से गुरुदेव के महत्व के विषय में सुनकर, कहा, "यदि आपके गुरुदेव मुझे कोई हृदयग्राही चमत्कार दिखा दें तो मैं अपने बीसों प्रतिष्ठान उनके हवाले कर दूंगा।" धीरे-धीरे

यह बात गुरुदेव के कानों तक पहुँची। उन्होंने सौम्यतापूर्वक उत्तर दिया, "उन्हें एक तगड़ा गदहा तलाशने के लिए कहो जो उनके बीस प्रतिष्ठानों का बोझा आराम से ढो सके।" जब उन सज्जन ने यह उत्तर सुना तब उन्हें अपनी भूल का अनुभव और अपनी मूर्खता पर पछतावा हुआ। संक्षेप में, साधारण लोगों की सामान्यतः यही मनोवृत्ति होती है जिसके कारण वे चमत्कारबाजों के धोखे में आ जाते हैं।

फिर भी, अपने सारे अद्यतन ज्ञान और अपनी बेहतर समझ के बावजूद, यह निर्णय करना आसान नहीं होता कि कोई चमत्कार वास्तविकता है या चकमा। जो कुछ हम देखते हैं या मानते हैं उसे तर्क से समझाया जा सकता है पर उस तरह से एक चमत्कार को समझाना कभी-कभी बहुत कठिन होता है। कुछ चमत्कारों का बहुत चतुरतापूर्वक नियोजित चालों के रूप में पर्दा-फाश किया जा सकता है। लोग कभी-कभी चमत्कारपूर्ण शक्तियों का, अस्पष्ट भाषा में कुछ बातों की पूर्व सूचना देकर, प्रदशन करते हैं। ऐसी अस्पष्ट भाषा का तरह-तरह का मतलब लगाया जा सकता है। साधारण यौगिक करतब और तुच्छ बाजीगरी की बातें कभी-कभी एक ही चीज मानी जाती है।

दूसरी ओर, कभी-कभी ऐसी बातें होती हैं जिनमें चमत्कार की सच्चाई पर विश्वास करना ही पड़ता है। ऐसे चमत्कार

उन शक्तियों के परिणाम होते हैं जो शरीर की नाड़ियों की कुछ विशिष्ट क्रियाओं से प्रस्फुटित होती हैं और जो विचार या संकल्प की शक्ति से सक्रिय होती हैं। पर साधारण समझ के स्तर पर उनकी कैफ़ियत नहीं दी जा सकती। पर प्रश्न यह है कि वे भले ही द्रष्टा के लिए अबोधगम्य हों, पर क्या वे प्रदर्शक की समझ के भी बाहर हैं ? यह बिल्कुल सम्भव है कि जो द्रष्टा के लिए रहस्यमय है वह प्रदर्शक के लिए वैसा न हो क्योंकि प्रदर्शक को किसी विशेष कौशल का पता रहता है जो द्रष्टा को नहीं मालूम रहता । उदाहरण के लिए, एक आदमी रात भर धरती के नीचे, बिना हवा की आवा-जाही के गड़ा रहता है फिर भी अगली सुबह जीवित बाहर निकल आता है। साधारण आदमी के लिए यह चमत्कार हो सकता है पर जिसको भी प्राणायाम की कुछ जानकारी रहती है वह आसानी से समझ जाता है कि यह प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास का परिणाम है। इस तरह, प्रायः हर मामले में जो चमत्कार सामान्य स्तर पर अधिकतर लोगों को रहस्यमय लगता है, हो सकता है कि वह ऐसे लोगों को रहस्यमय न लगे जिन्हें उससे संबद्ध कला की जानकारी हो। इस अर्थ में कोई भी चमत्कार बिरले ही सभी के लिए चमत्कार होता है। शायद कुछ लोग ऐसे रहते हैं जो औरों का अज्ञात किसी विशेष ज्ञान के आधार पर उसका विश्लेषण कर सकते हैं।

इस रहस्य का और उद्घाटन हो सकता है यदि हम प्रदर्शन के उद्देश्य पर नजर डालें। अधिकतर यह व्यक्तिगत लाभ, महानता और श्रेष्ठता का दिखावा या लोगों को अपनी शिष्यमंडली में खींचने की छल भरी चाल होती है। इस दृष्टि से यह कहना गलत न होगा कि प्रायः हर चमत्कार में वास्तविकता कम और चकमेबाजी अधिक होती है।

पर ऐसी समग्र निन्दा एकदम न्यायोचित नहीं होगी क्योंकि कभी-कभी हमें सच्चे क्षमतावान सन्तों या महान धर्म-संस्थापकों का दर्शन होता है, जो इस तरह के किसी प्रभावकारी वृत्तान्त से जुड़े होते हैं। यद्यपि वे हमारी बाहरी दृष्टि से चमत्कार ही लगते हैं, पर उस कोटि में वे आते नहीं। साधारणतया वे तभी सक्रिय होते हैं जब उनकी वास्तविक आवश्यकता होती है और ऐसा कर्ता के बिना किसी विचार या इरादे के, सूक्ष्म शक्तियों के प्रभाव से होता है। विचार या संकल्प के जरा भी लगाये बिना और कर्ता की भी सबोध जानकारी के बिना वे सर्वथा स्वतः घटित होते हैं। सार्वजनीन कल्याण के निमित्त प्रकृति के कार्य-सम्पादन-क्रम में, किसी महान आत्मा के माध्यम से ऐसे चमत्कार (यदि उन्हें चमत्कार ही कहा जा सके) घटित होते हैं।

कुंडलिनी

इन सब शक्तियों के केन्द्र को समान्यतः कुंडलिनी समझा

जाता है, जो मनुष्य में प्राणाधार सूक्ष्म ओज है। यह शरीर के निचले भाग में नाभि-तल के समीप स्थित है। यह शरीर संरचना-तन्त्र का पेड़ू प्रदेश है और कुंडली मारे साँप की तरह बतायी जाती है। यह अतिशय शक्तिमती समझी जाती है। योग, विशेष कर हठयोग में, इसका महत्त्व बहुत अधिक माना जाता है। हठयोग में इसी को योगी का वास्तविक लक्ष्य माना जाता है। शारीरिक तल पर कुंडलिना की क्रियाओं का पता नहीं है। अपनी सामान्य अवस्था में, शरीर के किसी भी चेतन और अवचेतन स्नायु को प्रभावित किये बिना, वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। जागृत होने पर वह सक्रिय होती है और शारीरिक संरचना के सभी महत्त्वपूर्ण केन्द्रों को प्रभावित करती है। कुंडलिनी का जागरण या तो साधना की समुन्नत अवस्था में परिप्रौढ़ होने पर स्वतः होता है या प्राचीन विधि में विहित आसन प्राणायाम आदि शारीरिक व्यायाम द्वारा बलपूर्वक कराया जाता है। प्रचलित मत के अनुसार जागृत होने पर कुंडलिनी मेरुदंड के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल जाती है। उसका सिर सहस्र-दल-कमल के बीचो-बीच और पूँछ मूलाधार प्रदेश में रहती है। तब उसका प्रभाव मेरुदंड के बीचो-बीच से संवाहित होकर स्नायु-तन्तुओं के माध्यम से चक्रों पर प्रतिफलित होता है। इसी को 'चक्र-भेदन' कहते हैं। कुंडलिनी के जागरण से चक्र स्वतः जागृत मान लिये जाते हैं। लोगों का

विश्वास है कि कुंडलिनी के जागरण से असामान्य शक्तियाँ, सिद्धियाँ मिल जाती हैं और इन्हीं को पाने की अधिकांश

कुंडलिनी, जैसा तान्त्रिक पुस्तकों में चित्रित है।

योगाभ्यासियों को चाह रहती है। परन्तु सच्चे अर्थ में, वास्तविक प्रयोजन से वह बहुत दूर है।

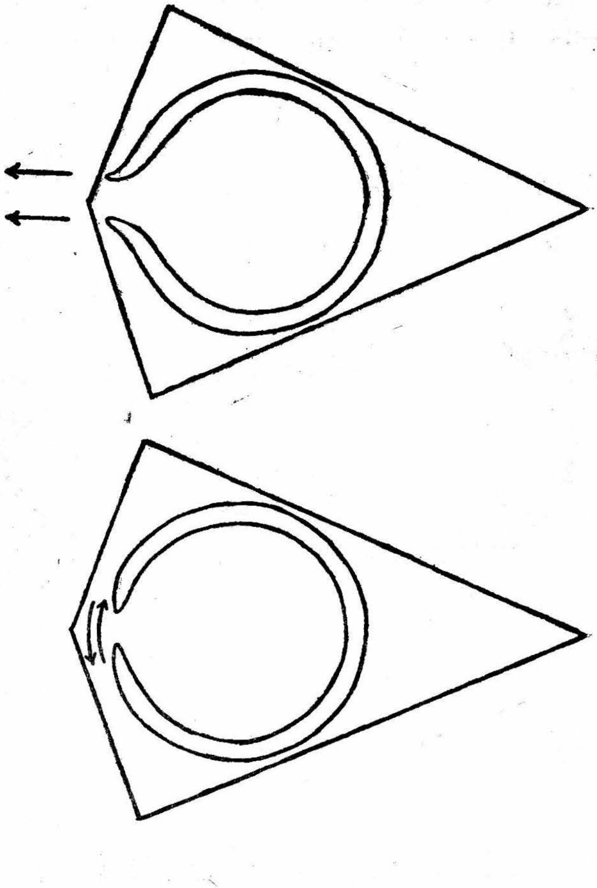

कुंडलिनी की सही आकृति

गुरुदेव की अद्‌भुत खोज इस रहस्यमय शक्ति की अधिक वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। वे कहते हैं कि कुंडलिनी कुंडलाकार साँप के समान न होकर खुले मुँह वाली मुद्रिका की

आकृति की है, जिसके दोनो छोर एक दूसरे से थोड़ा हटे हुये हैं। वे आमने-सामने हैं और शक्ति-प्रवाह के लिए सिरों का काम देते हैं। उनमें से एक धनात्मक सिरा है, दूसरा ऋणात्मक सिरा प्रत्येक सिरे से दूसरे सिरे में एक प्रकार की शक्ति बहती रहती है जिससे अपने ही भीतर एक परिपथ[१] बन जाता है। इसलिये कुंडलिनी शक्ति की क्रिया अपने तक ही सीमित रहती है, मानव शरीर के किसी अन्य भाग को प्रभावित नहीं करती। पर जागृत होने पर इसके दोनों सिरे थोड़ा और दूर हट जाते हैं और थोड़ा ऊपर की ओर मुड़ जाते हैं। तब दोनों सिरों से प्रवाहित होने वाली शक्ति कुंडलिनी में ही अवस्थित नहीं रहती बल्कि सुषुम्ना नाड़ी से होकर ऊपर की तरफ बढ़ती है तथा आधार से सहस्रार-केन्द्र तक चल कर और बड़ा परिपथ बनाती है। ऐसा नहीं होता कि वह शारीरिक नाडी स्वयं, मेरुदण्ड में होकर फैलने के लिए, सीधी हो जाती है बल्कि वह कुंडलिनी में स्थित शक्ति-परिपथ का विस्तारण मात्र है। कुंडलिनी के जागरण से प्राप्त असामान्य शक्तियों को लेकर अनेक तरह की गलतफहमियाँ हैं। जब शारीरिक उपायों से कुंडलिनी जबर-दस्ती जागृत की जाती है, तब उससे प्राप्त शक्ति का सामान्यतः सांसारिक प्रयोजनों में उपयोग किया जाता है। इस अर्थ में, कुंडलिनी के जागरण को केवल सांसारिक प्रयास मानना चाहिये

---

१. Circuit

और वह योग को परिभ्रष्ट करने जैसा है। वस्तुतः कुंडलिनी संवेदनाओं का अधिष्ठान हैं, जो उसके जागरण से वश में हो जाती हैं। उसी के साथ दिव्य प्रज्ञा प्रकट होती है और प्रकृति एक खुली पुस्तक हो जाती है। इस तरह अर्जित असामान्य क्षमता प्रकृति के कार्य सम्पादनार्थ होती है जिससे समुन्नत अवस्था वाला योगी कतरा नहीं सकता। न यह साधना का अन्तिम लक्ष्य है, न योग की सच्ची कसौटी और न आध्यात्मिक उत्कर्ष का एक सारभूत तत्त्व। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक समुन्नत अवस्था में पहुँचने पर योगी की कुंडलिनी जागृत हो ही जाती है, पर इसका यह आशय नहीं कि शारीरिक उपायों से उसे बलपूर्वक जगाने से कोई सच्चे अर्थ में योगी हो जाता है। अधिकतर मामलों में बलपूर्वक जागरण से घोर बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। इसी से कुंडलिनी, जो सहज क्रम से गुण हो सकती है, अन्य अवस्थाओं में यह निकृष्टतम दानव को उत्पन्न करने का साधन हो सकती है। इसलिये इस विषय में अत्यधिक सजगता आवश्यक है और समय से पूर्व उसके जागरण के लिए कभी चेष्टा न करनी चाहिए।

इस रहस्यपूर्ण दिव्य ऊर्जा के विषय में स्वयं-प्रस्फुरित ज्ञान पर आधारित मेरे गुरुदेव का मत, जो कुंडलिनी के रहस्य को बहुत कुछ स्पष्ट करता है, निम्नलिखित है :—

"कुण्डलिनी की स्वतः जागृति प्रसुप्त ऊर्जा को क्रियाशील

बनाती है। ऐसा, उच्चस्तरीय अतिचेतना की ग्रन्थि खोलने के लिए होता है। इसका अर्थ है दिव्य ज्ञान का उदय। अभ्यासी ज्या-ज्यों सूक्ष्मता की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह ज्ञान विकसित होता जाता है। मनःक्षेत्र को पार करने के बाद हम तथाकथित प्रकाश के सात वृत्त-क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं। इस तरह अर्जित दिव्य ज्ञान विशुद्ध सूक्ष्म अवस्था धारण करने लगता है और तीसरे वृत्त तक पहुँचने पर इसको प्रकृति के अनुरूप, स्वतः प्रेरित क्रियाशीलता प्रारम्भ हो जाती है। जब हम सातों वृत्तों को पार कर लेते हैं, तब यह चरम अवस्था में पहुँचती हैं। जहाँ तक मानवीय सामर्थ्य का सम्बन्ध हैं, इस चरम अवस्था की उपलब्धि पूर्णता का चिह्न माना जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुण्डलिनी की क्रिया उच्चतर स्तरों की क्रिया से स्थूल होती है।

"एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि कुण्डलिनी का जागरण 'लिबरेशन' अर्थात् जन्म-मरण-चक्र से मुक्ति पाने के लिए कतई अनिवार्य नहीं है। जिनका ऐसा मत है वे इसको अपने हृदय में परख सकते हैं और स्वतः यह निर्णय कर सकते हैं कि साधना में उनको सहायता कुण्डलिनी से मिलती है या अन्तःस्थित आत्मा से। वे निश्चयतः इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस पक्ष में कुण्डलिनो उनकी सहायता

नहीं करती और इस तरह, उसके ऊपर लगाया गया सारा समय और श्रम व्यर्थ होता है। दूसरी ओर अधिकांश बार इससे घोर दोष और भयंकर बुराइयाँ उत्पन्न होते हैं।

"इस सम्बन्ध में मेरी आधुनिकतम खोज यह है कि जो परमाणु सहस्रार में रहते हैं वे सब सूक्ष्मतर रूप में कुण्डलिनी में रहते हैं। कुण्डलिनी की कोशिकाएँ मस्तिष्क की कोशिकाओं से मिलती हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि कुण्डलिनी की कोशिकाएँ शंकु की आकृति की होती हैं। साधना प्रौढ़ होने पर जब कुण्डलिनी जागृत होती है तो कुण्डलिनी-कोशिकाओं की शांकवीय आकृति प्रायः गोल आकृति में बदलने लगती है जिसमें उनका शीर्ष-बिन्दु थोड़ा ऊपर की ओर निकला रहता है। केवल इस रूपान्तरण के बाद, यह शक्तिशालिनी ऊर्जा ईश्वरीय कार्यों की ओर प्रेरित होकर सहज रूप से क्रियाशील होती है। बलपूर्वक जागरण की दशा में, जैसा हठयोग में होता है, कोशिकाओं की शांकवीय आकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। उस दशा में आध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी उपयोगिता कुछ नहीं होती और उससे जागृत शक्ति प्रायः हमेशा पार्थिव तल की ओर मोड़ दी जाती है जिससे अनेक अकथ्य बुराइयाँ पैदा होती हैं। यदि यही अवस्था अर्थात् शांकवीय बनावट दूसरे चक्रों पर भी छा जाती है तो बुराई का कोई पार नहीं रहता और अन्त में निकृष्टतम दानव को जन्म देती है। यही रावण के सम्बन्ध

में घटित हुआ था। कुण्डलिनी सहित उसके समस्त चक्रों को सारी कोशिकाएँ एकदम शांकवीय आकृति की हो गयी थीं और उनके रूपान्तरण की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी थी। उस दशा में एकमात्र समाधान विनाश था। यह उदाहरण समुचित रूप से बतलाता है कि महत्त्व कुण्डलिनी के जागरण का नहीं, उसके रूपान्तरण का है। इसलिये आवश्यक रूपान्तरण हुये बिना उसे जगाने की अपेक्षा उसे प्रसुप्त रहने देना कहीं बेहतर होगा। हठयोग की प्रक्रिया से ऐसे रूपान्तरण की शायद ही सम्भावना रहती है क्योंकि उसमें अभ्यासी का ध्यान शक्ति की प्राप्ति पर अधिक और सूक्ष्मता पर कम रहता है। ऐसी हालत में समुचित रूपान्तरण यदि हो सकता है तो केवल सर्वोच्च योग्यता वाले गुरु की असामान्य शक्तियों द्वारा ही हो सकता है, यदि ऐसा गुरु विद्यमान और प्राप्य है।

"एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता जो अब तक अज्ञात थी, सुषुम्ना नाड़ी से होकर कुण्डलिनी के गुजरने से सम्बन्ध रखती है। हठयोग में सामान्यतः जागृत कुण्डलिनी-शक्ति मेरुदण्ड के एक सिरे से दूसरे सिरे तक मार्ग बनाती है। जागृत ऊर्जा, जिसे सहस्रार के आधार पर मेरुदण्ड के शीर्षस्थ बिन्दु के माध्यम से क्रियाशील होना चाहिये था, उस बिन्दु की अपरिकृष्ट अवस्था के कारण अवरुद्ध हो जाती है। इस तरह वह सहस्रार की सूक्ष्म अवस्था से संयुक्त नहीं होती बल्कि पार्थिवता के निम्न तलों की

ओर मुड़ जाती है । राजयोग में कुण्डलिनी-शक्ति धनुषाकार वक्र रूप से ऊपर चढ़ती है; वक्र के बीचोबीच केवल बाल बराबर मोड़ होता है । यह शक्ति को अपने सहज समुचित रास्ते पर रखता है और सूक्ष्मता की शुद्धतर अवस्थाओं में ले जाता है । ऐसी दशा में रूपान्तरण स्वतः होता रहता है जिससे स्थूल अंश छटते जाते हैं । ऐसी परिस्थिति में गलत मोड़ या दुरुपयोग का कोई भय नहीं रहता ।"

—:o:—

अध्याय ४

मन और ध्यान

(१) मन[1]

मन मनुष्य में मूल शक्ति है। जिसने सृष्टि की प्रक्रिया को क्रियाशील किया उस प्रथम क्षोभ से इसका जन्म हुआ। अपनी आद्य अवस्था में वह अत्यन्त सूक्ष्म था। इस अतिविशुद्ध अवस्था से वह अधिकाधिक स्थूल होता गया; यहाँ तक कि

---

१. मानव-मन की उत्पत्ति से संबन्धित सिद्धान्त की जैसी व्याख्या इस पुस्तक (राजयोग का दिव्य दर्शन) में की गई है, युक्ति-संगत आधार पर आधारित है। प्रसुप्त ईश्वरेच्छा द्वारा क्रियाशील होकर आद्य क्षोभ अस्तित्व का कारण बन गया। उस क्षोभ ने प्रच्छन्न शक्तियों को गतिमान कर दिया और सृष्टि तथा जीवन का विधान आरम्भ हुआ। वही मूल शक्ति 'क्षोभ' या प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकट हो मुख्य कार्यशील शक्ति के रूप में प्रत्येक प्राणी में उतरी। मनुष्य में इस शक्ति को 'मन' कहा गया है, जिसके मूल में वही प्रसुप्त 'इच्छा' है जैसी कि ठीक उस 'क्षोभ' में थी। इस प्रकार मानव-मन 'मूलशक्ति' अथवा आदि 'क्षोभ' के, जिसका वह एक अंश है, बहुत समरूप है। इस तरह दोनों के कार्य भी बहुत समान हैं।

(राजयोग का दिव्य दर्शन—तृतीय संस्करण : पृ० १४)

वह वर्तमान चेतन मन की अवस्था में आ गया। विचारकों ने मानव-मन को, चेतन और अवचेतन, दो वर्गों में बाँटा है। चेतन मन (जिसे भौतिक मन भी कहा जाता है) के तल पर उसके कार्यों का, जो हमारे प्रत्यक्ष-ज्ञान और अनुभव के अन्तर्गत होते हैं, शारीरिक रूप से और संकल्प-शक्ति द्वारा, नियन्त्रण किया जा सकता है। पर अवचेतन मन भीतर ही भीतर कार्य करता रहता है और वह बोधपूर्वक नियंत्रण से परे होता है। पर इन दो मोटे विभाजनों से मानव-मन के सारे विविध तलों की व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तुत: वे असंख्य हैं। इस तरह अवचेतन मन के अन्तर्गत चेतना के वे सारे विभिन्न तल आ जाते हैं जो सचेतन मन की सीमाओं से परे हैं। चेतना की परवर्ती सारी अवस्थाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती जाती हैं यहाँ तककि वह सृष्टि काल की अपनी आद्य अवस्था तक पहुँच जाती हैं। अपने चरम आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए दर्शन-शास्त्र को चेतना की इन सारी परवर्ती अवस्थाओं का ध्यान रखना चाहिए। सचेतन मन को स्थूल कहा जाता है। इसके आगे सूक्ष्म मन है जो निम्नतर या स्थूल-मन की सारी क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। इस तल पर फिर अनेक विभिन्न अवस्थायें हो सकती हैं जो सघनता या जड़ता में एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इससे ऊपर कारण मन आता है जो सूक्ष्म मन के कार्यों को नियंत्रित करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायेगा कि सचेतन मन

में जो कुछ आता है वह वस्तुतः बहुत सूक्ष्म चेतना के किसी ऊँचे केन्द्र से आता है जहाँ निम्नतल पर हमारे विचारों और कार्यों के संस्कार आरोपित होते हैं।

मन का नियंत्रण

मानवीय क्रियाओं का केन्द्र होने के कारण, मानव में सभी कुछ का नियंत्रण मन करता है। वह सारे कार्यों, विचारों, आवेगों और मनोभावों को शासित करता है। वह निरन्तर सक्रिय रहता है । यदि उसे अपने ही ढंग से काम करने के लिए स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय, जैसा कि सामान्यतः होता है, तो सामान्यतया वह शारीरिक बोध से संयुक्त होकर शारीरिक अभिलाषाओं और लालसाओं की पूर्ति के लिए काम करने लगता है। इस तरह उसकी अधिकतर क्रियायें पार्थिव प्रयोजनों की ओर मुड़ जाती हैं और वह उन्हीं में फँस जाता है। मानव मन की यह अनियंत्रित केवल एक ओर लगी वृत्ति वस्तुतः अधिकांश बुराइयों के लिए उत्तरदायी है जो अन्ततः हमारी समग्र अवनति का कारण होती हैं । इसी से मन को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कह कर दोषी बताया जाता है और उसके दमन और नाश के लिए उपायों की अनुशंसा की जाती है। पर यह एकदम स्पष्ट है कि ऐसे उपाय भले कभी-कभी अस्थायी रूप से मन की रोकथाम कर लें पर उनके द्वारा उसे बुरी वृत्तियों से मुक्ति नहीं मिल सकती, जो सदा उसके अंदर गहरी

दबी पड़ी रहती हैं। केवल बुराइयों के जमें रहने की दशा में दमन आवश्यक हो सकता है। इस तरह जब हम मन का दमन करने लगते हैं तो बुराइयों के बने रहने का विचार भी उसमें अन्तर्निहित है। इसका मतलब हुआ कि विष को यथावत् रहने दिया जाता है और केवल उसकी वाह्य क्रिया को रोकने के प्रयास किये जाते हैं। नियंत्रण में थोड़ी भी ढिलाई होने पर, बुराई फिर सिर उठाती है और अपनी क्रिया दिखाने लगती है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि 'मन का दमन' स्वत: अपने में एक गलत शब्दावली है। 'मन का निर्मलीकरण' कहना ठीक होगा, जिसका अभिप्राय है मन से सारे अवांछनीय तत्त्वों का निरसन। यही वस्तुतः उचित क्रम है और हमारे प्रयोजन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

मन का निर्मलीकरण

निस्सन्देह सारी बुराइयां मन से उपजती हैं पर यह तभी होता है जब मन अव्यवस्थित रहता है। अतः उचित क्रम यह होगा की उसकी वृत्तियों को सही मार्ग की ओर प्रेरित करके उसे ठीक किया जाय। अन्दर दबी बुराई के विष को बाहर निकाल फेंकने से यह सबसे अच्छी तरह संपन्न हो सकता है। यह मन की समुचित सफ़ाई और निर्मलीकरण से होता है क्योंकि तब मन अपनी बुराइयों से मुक्त हो जाता है। निर्मली-करण में केवल असद्वृत्तियों का विरेचन ही नहीं बल्कि जीवन

की सारी जटिलताओं और जड़ता का विरेचन भी शामिल है, जो सांसारिकता के अभिभूतकारी प्रभाव से उत्पन्न होती हैं।

अतः आन्तरिक निर्मलीकरण साधना का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। जब तक ऐसी जटिलतायें दूर न हो जायँ, या कम से कम, खूब घट न जायँ, तब तक अध्यात्म मार्ग पर शायद ही प्रगति होती है। पर दुर्भाग्यवश, आध्यात्मिक जीवन की इस सबसे अधिक आवश्यक बात की, अधिकतर साधना-पद्धतियों में उपेक्षा की जाती है। परिणाम यह होता है कि जीवन भर यान्त्रिक पूजन-विधि में लगे रहने पर भी लोग सिर से पैर तक जड़ता में जकड़े रहते हैं और परम सत्य (परब्रह्म) की ओर उनकी पहुँच अवरुद्ध रहती है। वस्तुतः आध्यात्मिक उन्नति तब तक स्वप्न मात्र रहती है जब तक कि मन के पूर्ण निर्मलीकरण और समुचित नियमन द्वारा उसकी कमी पूरी नहीं की जाती। निःसन्देह यह बड़ा उबाऊ काम है जिसके लिए अभ्यासी का पूरा ध्यान और अनवरत परिश्रम अपेक्षित है। इस विषय में योग्य गुरु की सहायता और आश्रय भी बहुत आवश्यक है।

मन का नियमन

वास्तव में मन का नियमन मुख्य उद्देश्य है, जिसके लिए सफाई और निर्मलीकरण का आश्रय लिया जाता है। इसमें एक

अर्थ निहित है जो निर्मलीकरण से कुछ अधिक है। मन के नियमन का आशय केवल उससे बुराइयों या जड़ तत्त्वों का विरेचन ही नहीं है, बल्कि उससे सम्बद्ध सभी चीजों की उचित व्यवस्था और यथोचित अनुसोमन[१] भी है। इसका अर्थ है उतार, चढ़ाव, उत्तेजना से मुक्त पूर्ण साम्यावस्था। पर इसका अर्थ भावनाओं और आवेगों का सर्वथा निरसन नहीं है। आवेग और भावनायें हमारे जोवन के दैनिक कामों में कभी कभी बहुत आवश्यक होती हैं; आवश्यकतानुसार उनका प्रदर्शन किया ही जाना चाहिए पर आवश्यक सीमा के आगे या अनियन्त्रित ढंग से नहीं; साथ ही साथ मन को उनके बोझिल प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए।

(२) ध्यान

चूँकि मन का समुचित नियमन साधना का बहुत आवश्यक अंग है, अतः शुरू से ही इसका अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। इसकी एकमात्र कारगर विधि ध्यान है जिसका मन के व्यापार से सीधा सम्बन्ध है। मन की अविराम भटकन और बहुविध क्रियाओं पर, उसकी सामान्य वृत्ति में धीरे-धीरे परिवर्तन लाकर, रोक लगाई जा सकती है। शारीरिक चेतना से घनिष्ठ सम्पर्क के कारण मन बुराइयों में लिप्त हो जाता है और बराबर ऐन्द्रिक लालसाओं का चिन्तन करता रहता

---

१. Moderation

है। उसे उच्चतर और उदात्ततर आदर्शों की ओर मोड़ना आवश्यक है। ध्यान में हम यही करते हैं। ध्यान में हम कुछ समय तक एक विषय से अपने को जोड़ते हैं। इसका अर्थ है कि कम से कम उतनी देर तक हम मन के बेहूदा रुख से बचे रहते हैं। जब अभ्यास पुष्ट हो जाता है और मन इसका आदी हो जाता है तो अन्तर में शान्ति और समता की अवस्था विकसित होने लगती है। ध्यान के अभ्यास से इस प्राथमिक फल की प्राप्ति होती है।

एकाग्रता

यह सामान्य धारणा कि ध्यान का प्रथम चरण एकाग्रता है, एकदम भ्रान्त है। अधिकतर लोग यह मानते हैं कि ध्यान का अभ्यास करने के लिए पहले एकाग्रता का अभ्यास आवश्यक है। 'धारणा' शब्द की गलत व्याख्या से, जो अष्टांग योग में ध्यान के पहले आती है, इस भ्रान्ति का जन्म हुआ। पर धारणा का अर्थ है केवल सजगता, एकाग्रता नहीं जैसा साधारणतया समझा जाता है। यदि हम अपनी दैनिक चर्या के सन्दर्भ में इस प्रश्न का विवेचन करते हैं तो हम देखते हैं कि जब हम अपनी किसी सांसारिक समस्या को सोचने लगते हैं तब धारणा, ध्यान और समाधि में निहित तीनों क्रमों में से गुजरते हैं। हर दशा में, पहले हम उस चीज पर अपना ध्यान जमाते हैं, तब हम उसके बारे में लगातार सोचने लगते हैं। कभी-कभी जब

हमारा चिन्तन बहुत गहरा हो जाता है तो हम उसी में खो जाते हैं; इसे ही समाधि अवस्था माना जा सकता है। इसलिये यह मानना गलत होगा कि एकाग्रता ध्यान का प्रथम चरण है। इसके अतिरिक्त, यदि हम शुरू में ही एकाग्र होने का प्रयत्न करने लगें तो उपशमावस्था[1] लाने के लिए मन की क्रियाओं को दबाना पड़ेगा और उसके लिए भौतिक बल का आश्रय लेना पड़ेगा। निश्चयतः यह गलत क्रम है और हमारे वास्तविक प्रयोजन से दूर है। बलपूर्वक, भौतिक साधनों द्वारा उद्भूत मन का उपशम अस्थायी मूर्छावस्था ला सकता है, जिसे भूल से आध्यात्मिक अवस्था समझ लिया जाता है। वह क्लोरोफार्म या अन्य औषधियों के प्रभाव से उत्पन्न अचेतन अवस्था से अधिक मिलता है।

ध्यान का विषय

इस सम्बन्ध में अगली महत्वपूर्ण बात ध्यान का विषय निर्धारित करना है। कुछ आचार्यों ने ध्यान दो प्रकार के बताये हैं—साकार और निराकार। साकार ध्यान वह है जिसमें ठोस रूप वाले किसी पार्थिव विषय पर ध्यान किया जाता है। इसके लिए अनेक विषय सुझाये जाते हैं। अधिकतर किसी देवता की मूर्ति या चित्र सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। कुछ और

---

१. State of suspension

लोग ध्यान के लिए दीप-शिखा, पर्वत की चोटी, कोई नदी या फूल तक का सुझाव देते हैं। जिस विषय का ईश्वरीय चिन्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है उसका कोई महत्व समझ में नहीं आता। हाँ, यदि अपने लौकिक लाभ के लिए किसी सम्मोहन शक्ति के विकासार्थ एकाग्रता का अभ्यास करना उनका इष्ट है तो अलग बात है। किसी मूर्ति का ध्यान करने से भी वही प्रयोजन सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, जब शारीरिक आकृति वाले किसी ठोस विषय को लेकर ध्यान किया जाता है तब उस विषय की विषिष्टताओं, जैसे स्थूलता या जड़ता, का भी मन पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, जिसके परिणाम स्वरूप जड़ता घटने की जगह बढ़ती जायेगी। पर उपर्युक्त मत (स्थूल विषय का ध्यान) का समर्थक अपने बचाव के लिए खड़ा हो जायेगा और कहेगा कि ध्यान मूर्ति का नहीं, बल्कि उसके मूल-में स्थित सत्य का किया जाता है। पर यह केवल व्यर्थ के वाद विवाद की बात है। वास्तव में हजार पीछे एक आदमी भी शायद वैसा भाव नहीं रखता। वास्तव में लोग ठोस रूप वाली मूर्ति का ही ध्यान करते हैं, उसके मूल में स्थित सत्य की उपेक्षा कर देते हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जब किसी ठोस विषय को ध्यान में लिया जाता है तो उसके मूल में स्थित सत्य स्वतः विस्मृत हो जाता है और लोग जबरन केवल एकाग्रता के अभ्यास में लगे रहते हैं। इस तरह वे स्वभावतः अधिकाधिक जड़ता का संग्रह करने में लगे रहते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है

कि ठोस रूप का ध्यान दुष्प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे सूक्ष्मता की ओर हमारी यात्रा में बाधा पड़ती है। इस अर्थ में तथाकथित मूर्त ध्यान हमारे चरम प्रयोजन के लिए किसी तरह सहायक नहीं होता और इसलिये अध्यात्म में किसी काम का नहीं है।

इस दृष्टि से सूक्ष्म प्रकार के विषयों का अति सूक्ष्म विधि से ध्यान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। इस आशय से ध्यान के लिए कोई एक दैवी गुण ले लिया जाता है। सहज मार्ग में हम यही करते हैं। इसके द्वारा हमारा आशय गुण से चलकर गुणी तक पहुँचना रहता है। चूँकि हमारा लक्ष्य सूक्ष्मता की चरमावस्था है, तो यह आवश्यक है कि हमारे ध्यान का विषय भी भी सूक्ष्मतम प्रकृति का हो। उसे शरीर रूप में हमारी मानसिक दृष्टि में लाने के लिए, उस पर कोई काल्पनिक रूप नहीं आरोपित कर देना चाहिए। विचारगम्य विषय को किसी कल्पित रूप में समूर्त करने के प्रयास का परिणाम जड़कारी होगा और फलस्वरूप इस प्रक्रिया का प्रभविष्णुता नष्ट हो जायेगी और अन्त में सफलता संदिग्ध हो जायेगी। यदि इसका सघन अभ्यास किया जाय तो मानसिक व्यतिक्रम भी उत्पन्न हो जायेंगे। इस कारण से ध्यान के विषय का चुनाव करने में, हर एक को बहुत सावधान होना अति आवश्यक है। परीक्षित विधियों का अनुसरण करना और हर हालत में ध्यान के मूर्त

विषयों से सम्बन्ध रखने वाले जड़कारी मतों से बचना सर्वोत्तम होगा ।

रूप पर ध्यान

शंकर ने अपनी "विवेकचूणामणि" में ध्यान की एक और विधि सुझाई है। इस ग्रन्थ में किसी योग्यता प्राप्त व्यक्ति की आकृति का ध्यान करना बताया गया है। ऐसा व्यक्ति सच्चे अर्थ में ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् असीम ब्रह्म में पूर्णतः विलीन होना चाहिए। ध्यातव्य आकृति मौलिक होनी चाहिए और उसके प्रति अलौकिकता का भाव रखना चाहिए । आकृति किसी कलाकार की कलात्मक धारणा द्वारा चित्रित नहीं होनी चाहिए। पर ऐसे व्यक्ति को पाना और सही सही पहचानना शायद सबसे कठिन काम है। सच तो यह है कि किसी भी साधक के लिए पक्का निर्णय करना कि वह व्यक्ति सचमुच ऐसा है या नहीं, उसकी शक्ति और क्षमता से बाहर है। सामान्यतः होता यह है कि किसी एक को अपने मन के रुझान के अनुकूल पाकर लोग सादगी, अनासक्ति और प्रेम के उसके निपुण प्रदर्शन से प्रसन्न होकर उसे ही प्रत्येक पदार्थ से परे और असीम (ब्रह्म) में सचमुच लीन मान लेते हैं, यद्यपि ऐसे निर्णय के लिए उनके पास कोई खरी कसौटी नहीं होती। अधिकतर मामलों में ऐसा केवल उनके अज्ञान या समझ की कमी के कारण ही नहीं होता, बल्कि उन तथाकथित समुन्नत व्यक्तियों के कारण भी

होता है। जो अपने को ईश्वरानुभूत प्रदर्शित करने का कोई मौका नहीं छोड़ते। यह बात खास तौर पर ध्यान में रखने की है कि यदि ध्यान की विषयभूत आकृति में किसी भी प्रकार की कमी है तो फल यह होगा कि साधक स्वयं लक्ष्य से दूर रह जायेगा। जो स्वयं बन्धनगत है वह दूसरे को मुक्त होने में सहायता नहीं कर सकता चाहे साधक उसके रूप का एक हजार वर्ष तक ध्यान करता रहे। दूसरी ओर, यदि ध्यातव्य आकृति किसी दुष्ट या ठग की है तो जो परिणाम होगा वह भी उसी प्रकार का होगा। इस तरह यह सर्वथा आवश्यक है कि ध्यान के लिए अंगीकृत आकृति सर्वोच्च-योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति की होनी चाहिए, जो प्रकृति से एकात्मभूत हो और चरम कारण रहित अवस्था अर्थात् ब्रह्म में स्थाई रूप से प्रतिष्ठित हो; अन्यथा इस अभ्यास से सर्वथा दूर रहना सर्वाधिक निरापद होगा। सहज मार्ग सिद्धान्ततः इस विधि के पक्ष में है पर इसको अपनाने की तब तक अनुशंसा नहीं करता जब तक ऐसा व्यक्ति उपलब्ध और पहुँच के अन्दर न हो।

सही मार्ग

अतः सरलतम और सहजतम विधि से ध्यान करना और बलात्कृत नियंत्रणों या मानसिक संघर्ष से दूर रहना, सही मार्ग होगा। वस्तुतः किसी ईश्वरीय पक्ष पर बार-बार चिन्तन करने की प्रक्रिया मात्र ध्यान है क्योंकि इससे विचारों की एक

जुड़ी हुई कड़ी बन जाती है। एकाग्रता, दमन या संघर्ष से इसका कोई संबन्ध नहीं है। बहुत सहज ढंग से मन को ईश्वरीय विचार की ओर धीरे से मोड़ना इसका लक्ष्य है। तो जो सामान्यतः होनी चाहिए वह प्रक्रिया है ध्यान के लिए गृहीत विचार की सूक्ष्मतम प्रतीति धारण करते हुए ध्यान का अभ्यास प्रारंभ करना। सहज मार्ग हृदय पर ध्यान करने की अनुशंसा करता है और इसके लिए ईश्वरीय प्रकाश की उपस्थिति का विचार धारण किया जाता है। परन्तु शब्दों में भले ही हृदय पर ध्यान या ईश्वरीय प्रकाश पर ध्यान कहा जाय पर ध्यान न हृदय पर न ईश्वरीय प्रकाश पर किया जाता है क्योंकि उनमें से कोई हमारा ध्येय नहीं है। हृदय केवल अवधान स्थिर करने के लिए आधार के रूप में और प्रकाश की उपस्थिति केवल कल्पना में रहते हैं। हृदय की स्थिति निर्धारित करने का या ईश्वरीय प्रकाश को दृष्टि में लाने का थोड़ा भी प्रयास नहीं किया जाता। इस तरह अभ्यास किया जाने वाला ध्यान सूक्ष्मतम होता है और इसलिये जड़कारी प्रभावों से पूर्णतः मुक्त होता है।

प्राणाहुति

मानव जीवन के सभी पक्षों—शारीरिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक—में अधोगति के वर्तमान युग में साधुता और

नीतिपरायणता के सामान्य मापदण्ड को बनाये रखना प्राय: असम्भव हो गया है। उसका सीधा-साधा कारण है मन का अतिजड़ भौतिकता की ओर झुकाव। इसलिए करना केवल इतना ही है कि मन को सही दिशा में मोड़ दिया जाय। सामान्यत: अपनाई गयी सभी साधनाओं का यही प्रयोजन होता है। लेकिन इसके लिए उपदिष्ट साधनायें अधिकतर यांत्रिक होती हैं और केवल शारीरिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हैं। अत: वे बहुत सहायक नहीं सिद्ध होतीं। इसी कारण, धर्म के विद्वान आचार्यों के उपदेशों और प्रवचनों के बावजूद, जनसाधारण अज्ञान के पंक में गहरा धँसा हुआ है और उसके छुटकारे की तनिक भी आशा नहीं है। मन की असंतुलित वृत्तियों को व्यवस्थित करने का एकमात्र प्रभावी उपाय ठीक ढंग से ध्यान है। पर सफालतापूर्वक ध्यान का अभ्यास तभी किया जा सकता है जब उसके पीछे प्राणाहुति की शक्ति हो। यह एक महान आत्मिक विद्या है जिसके द्वारा गुरुदेव अपनी खुद की आत्मिक शक्तियों के माध्यम से अभ्यासी की सुप्त अन्त:प्रेरित शक्तियों को जागृत कर आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर क्रियाशील करते हैं। अभ्यासी के निर्माण में और उसके अन्दर से जटिलताओं और अवरोधों को हटाने में इसका बड़ा हाथ रहता है। आदि से ही यह वैज्ञानिक पद्धति राजयोग का आधार रही है और प्राचीन काल के महान ऋषियों ने लोगों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए इसको काम में लिया है

जिसके अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में हैं। पर हमारी वर्तमान अधोगति के कारण यह श्रेष्ठ विज्ञान एकदम विस्मृति के गर्त में चला गया है यहाँ तक कि शायद बहुत थोड़े लोग इसका विश्वास तक करने को तैयार होंगे। दूरबोध[1] और सम्मोहन[2] की निम्नस्तरीय कलाओं की उन्हें बेहतर जानकारी होती है क्योंकि उनकी भौतिकतापरायण समझ को वे अधिक रुचिकर लगती हैं। फलस्वरूप इसको (प्राणाहुति को) सम्मोहन से भिन्न और कुछ न मानने का उनका रुझान रहता है, यद्यपि ज्ञान उनको शायद इन दोनों में से किसी का भी नहीं होता। दोनों के बीच की अतिशय विषमता को स्पष्ट करने के लिए मैं संक्षेप में कह दूं कि सम्मोहन का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की लौकिक शक्तियों से है, जब कि इस यौगिक प्रक्रिया का सम्बन्ध प्राण की विशुद्ध शक्तियों से है। उनका सम्बन्ध सीधे आत्मा से रहता है, पदार्थ उनका तनिक स्पर्श भी नहीं करता। प्रत्येक दशा में अभ्यासी पर पड़ने वाला प्रभाव भी भिन्न होता है। पहली अवस्था में सम्मोहित व्यक्ति की संकल्प-शक्ति और बुद्धि सर्वथा ध्वस्त हो जाती हैं और वह अपने स्वामी के हाथों की कठपुतली मात्र होकर रह जाता है, जब कि दूसरी अवस्था में अभ्यासी की संकल्प-शक्ति और बुद्धि अद्भुत रूप से दृढ़ हो जाती है। उसकी आत्म-शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और वह सर्वत्र शान्ति और

---

१. Telepathy   २. Hypnotism

हल्केपन का अनुभव करता है। सहज मार्ग में इसी प्रक्रिया (प्राणाहुति) द्वारा अन्तःप्रेरणा प्रदान की जाती है। इस पद्धति की यह एक महानतम विशिष्टता है जिसकी सहायता से मनुष्य आश्चर्यजनक रूप से कम समय में और सरलतम ढंग से आध्यात्मिक समुत्कर्ष के उच्चतम स्तर तक पहुँच जाता है। इस प्रक्रिया से जो व्यवहारोपयोगी परिणाम प्राप्त होते हैं वे इस पद्धति की प्रभाविता के पर्याप्त प्रमाण हैं। हर किसी का, इसे स्वयं आजमाने और अनुभव करने के लिए, स्वागत है।

गुरु का कर्तव्य

गुरु का कर्तव्य आध्यात्मिक जीवन का निश्चयतः बहुत महत्वपूर्ण तत्त्व है। सहज मार्ग में यह विशेष रूप से चरितार्थ होता है। इसमें संकल्प, श्रद्धा और विश्वास के साथ अभ्यासी के गुरु के आगे यथावत् समर्पण करने के बाद, पूरा उत्तर-दायित्व गुरु पर आ जाता है। इस पहलू से योग्य पथ-प्रदर्शक का चुनाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। इसके लिए पहले अपने अन्तिम लक्ष्य को साफ-साफ समझ लेना आवश्यक है। अपनी मानसिक रुचि पर आधारित सत्य की अपनी अपनी धारणा के अनुरूप लोगों के अन्तिम पहुँच के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत हैं। उन्हें गुरु भी उसी कोटि का मिल जाता है जिसकी उन्हें लालसा रहती है। पर उस अभ्यासी के लिए, जो ब्रह्म से एकात्म होने के उद्देश्य से अध्यात्म मार्ग पर आरूढ़ होता है,

मार्ग-दर्शक का भी उच्चतम कोटि का होना आवश्यक है जो अपनी स्वयं की आत्मिक शक्तियों का दूसरों के उत्थान के लिए उपयोग करने की क्षमता रखता हो। वस्तुतः उच्चतम उपलब्धियों की बहुत थोड़ी सम्भावना रहती है, जब तक कि प्राणाहुति की यौगिक प्रक्रिया द्वारा सहायता देने को सच्चा और योग्य गुरु उसके पीछे न हो। अभ्यासी की आन्तरिक शक्तियों की क्रियाशीलता को ठीक ढंग से नियमित कर सही मार्ग से ले जाना पूर्णतया मार्ग-दर्शक की योग्यता पर निर्भर करता है। संक्षेप में, अभ्यासी के अन्दर सच्ची दिव्य प्रेरणा पथ-प्रदर्शक से आती है। अभ्यासी की प्रसुप्त अन्तःप्रेरणात्मक शक्तियों को वही जागृत करता है और उचित नियमन और उच्चतर आरोहण की ओर उसकी गति को तीव्र करता है। वही अपनी शक्तियों द्वारा उसके मन से अवरोधों और जटिलताओं को दूर करता है और बराबर मार्ग-प्रदर्शन करता है। यदि उच्चतम ही हमारा लक्ष्य है तो हमें ऐसे व्यक्ति की ही तलास करनी होगी।

(३) समर्पण

सहज मार्ग साधना का सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व समर्पण है। वस्तुतः यही उपासना का सार है। अभ्यासी साधना के अन्तर्गत जो कुछ भी करता है उस सबके पीछे यही प्रयोजन रहता है।

प्रायः सभी साधनाओं का सामान्य प्रयोजन आत्मानुभव कहा गया है जिसका अर्थ 'ईश्वर में लीन होना' लिया जा सकता है। इसमें नकार का विचार निहित है। दूसरे शब्दों में, सच्चे अर्थ में व्यक्तिगत स्व का निरसन ही आत्मानुभव है।

पर 'निरसन' शब्द का आशय क्या है? उसे समझाने के लिए हमें मानव-विकास के समग्र क्रम का अनुसंधान करना पड़ेगा। मानव सत्ता की आद्य अवस्था एक अलग पहचान के रूप में थी—अति विशुद्ध सूक्ष्मता की अवस्था। उस सूक्ष्मतम अवस्था से मानव का जड़तर अवस्थाओं में पतन होता गया और वह अपारदर्शिता की तह-पर-तह लपेटता गया, जो उस पर आवरणों के रूप में जम गयीं। जड़ता उत्तरोत्तर घनीभूत होती गयी यहाँ तक कि मानव ने अपारदर्शी ठोसपन का वर्तमान स्वरूप धारण कर लिया। दिव्य चेतना के हृदय में जागृत होते ही यह क्रम उलट जाता है और अधोमुखी यात्रा मूल की ओर आरोहण में बदल जाती है। हम नीचे आये थे, भौतिक रूप से संग्रह करते हुए, फूलते हुए, फैलते हुए; अब हम ऊपर जाते हैं, पार्थिव रूप से घटते, सिकुड़ते और सिमटते हुए। पूर्व क्रम से दुर्वार अहं का निर्माण हुआ था जो पूरी तरह भौतिक चेतना में निमज्जित था। उत्तर क्रम हमें अहंपरक चेतना से उबारने में सहायक होता है और दिव्य चेतना से गुजरते हुए मूल बिन्दु तक ले जाता है। एक शब्द में, यही मानवी जीवन की कथा है।

अब हम इसमें से होकर कैसे आगे बढ़ते हैं ? ब्रह्म की ओर हमारी यात्रा दिव्य गुरु की महानता को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर लेने से शुरू होती है। हम प्रेम और भक्ति द्वारा उससे जुड़ जाते हैं—सच्ची भक्ति, केवल बाहरी खुशामद नहीं। इससे श्रद्धा उत्पन्न होती है जो सम्बन्ध को और दृढ़ करती है। इसके बाद वश्यता और त्याग स्वाभाविक क्रम में आते हैं। ये आत्म-समर्पण के प्राथमिक चरण माने जा सकते हैं।

आत्मसमर्पण की ओर बढ़ते हुए हमें एक के बाद एक करके कई चरणों से गुजरना पड़ सकता है। हम अपने नित्य के धंधों में महान् गुरुदेव की इच्छा का अनुसरण करते हुए, आत्मसमर्पण से शुरुआत करते हैं। एक तरह से, हम सब कुछ उन पर छोड़ने लगते हैं। लेकिन त्याग की बात केवल वश के बाहर परिणामों पर ही नहीं लागू होती, जो परिस्थितियों द्वारा हम पर लादे जाते हैं। यह निराशाकारी मामलों में केवल तसल्ली की बात हो सकती है, जब हम उस तरह का दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। सच्चे अर्थ में त्याग शुरू से आखीर तक मनुष्य के सारे प्रयासों को समाविष्ट करता है। समर्पण के साथ त्याग में वृद्धि होती है। हम अपने सारे विचार और कार्य उसको (ईश्वर को) समर्पित कर देते हैं और दैवी कर्तव्य की भावना से अपने कामों में लगते हैं। प्रारम्भ करने वालों के लिए हमारे गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट विधि निम्नलिखित है :—

"एक आदमी अपना सर्वस्व गुरुदेव को समर्पित करके अपना काम शुरू करता है। वह यह विचार लेकर काम शुरू करता है कि अपने गुरु के लिए हर काम कर रहा हूँ—नहीं, मुझमें स्थित गुरुदेव ही हर काम कर रहे हैं। वह अपनी दैनिक चर्या शुरू करता है, प्रातःकाल स्नान करके जलपान करता है, बराबर यह सोचते हुए कि यह सब मेरे गुरुदेव कर रहे हैं। वह दफ्तर जाता है और दिन भर का अपना काम करता है, यही सोचते हुए कि मुझमें स्थित गुरुदेव ही यह सब कर रहे हैं। शाम को वह दफ्तर से (घर) लौटता है। रास्ते में वह एक आकर्षक नाच होता हुआ देखता है। आकर्षणवश उसकी आखें उस पर जम जाती हैं और उसे देखे बिना उससे नहीं रहा जाता। तब वह क्या करे? उसे सोच लेना चाहिए कि नाच मैं नहीं, मेरे अन्दर स्थित गुरुदेव देख रहे हैं। गुरुदेव की शक्ति तुरन्त उसके अन्दर प्रवाहित होने लगेगी और वह प्रलोभन से मुक्त हो जायेगा। दिन का काम समाप्त करके वह घर लौटता है। कई घण्टों के बाद अपने बीच में फिर उसे पाकर, उसके बच्चे प्रसन्न होते हैं। उनकी किलोलों से उसे भी आनन्द होता है और यह स्वाभाविक ही है। इस तरह उस समय गुरुदेव के पवित्र चिन्तन से अपने को च्युत पाता है। पर ऐसा नहीं होगा यदि उसके मन में यह विचार उस समय रहे कि मुझमें स्थित गुरुदेव स्वयं इन किलोलों का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। अब मित्र लोग तुमसे गपशप करने आते हैं। तुम भी उनसे बातचीत करने

लग जाते हो। उस समय यही सोचते रहो कि तुममें स्थित गुरुदेव उनसे बातचीत कर रहे हैं। इसी तरह तुम अपने कामों की सारी दिनचर्या को अनुकूल बना सकते हो। टहलते हुए तुम यह सोचते रह सकते हो कि गुरुदेव स्वयं टहल रहे हैं और साथ ही साथ उनकी याद में डूबे रह सकते हो। इसका अर्थ है कि तुम दुगुनी शक्ति से बढ़ रहे हो। ध्यान के समय सोचो कि गुरुदेव स्वयं अपने स्वरूप का ध्यान कर रहे हैं। यह अत्यधिक महत्त्व की बात है और सफलता की असली कुंजी है।"

निष्ठापूर्वक इस प्रक्रिया का अनुसरण करने पर अभ्यासी को नये संस्कारों का निर्माण रोकने में सहायता मिलेगी। हम अपने प्रयासों से ऐसा करने की कोशिश करते हैं। लेकिन इसमें जब तक केवल हमारा प्रयास रहता है तब तक यह केवल औपचारिक और भौतिक रहता है, यद्यपि शुरू में हमें इसी तरह चलना पड़ता है। निःसन्देह संकल्प-शक्ति और विश्वास का साथ तो रहना ही चाहिए। पर निरन्तर अभ्यास से यह आदत में बदल जाती है और कालान्तर में यह स्वतः, स्वसंफूर्त और सहज हो जाता है। समर्पण, उत्सर्ग और त्याग की सबोध भावना पृष्ठभूमि में चली जाती है और केवल दिव्य चेतना बराबर सक्रिय रहती है। व्यक्तिगत संकल्प दैवी संकल्प से एकाकार हो जाता है और दिव्यता हमारे प्राणों में प्रधान हो जाती है। इस तरह अपने सारे माल असबाब का थोड़ा थोड़ा कर के त्याग

करते हुए हम समर्पण में उन्नति करते जाते हैं। मेरे गुरुदेव के शब्दों में हमें अपने को केवल रिक्त करना है ताकि दिव्यधारा हमारे अन्दर प्रवाहित हो सके। यह हम ऊपर बताये उपाय द्वारा करते हैं। धीरे धीरे अतिविशाल अहं पिघलने लगता है और दिव्यता को अपना स्थान दे देता है। इस तरह रूपान्तरण चलता रहता है और कालक्रम में सारा शरीर-तन्त्र दिव्यतामय हो जाता है।

समर्पण में, अपने सारे माल-असबाब को बिना उससे कोई सरोकार रखे, दिव्य गुरु को सौंप देने का विचार निहित है। पर यदि किसी को यह भान रहता है कि मैंने समपण किया है, तब सच्चे अर्थ में उसने समपण किया ही नहीं। इसके अतिरिक्त, समर्पण के सीधे अभ्यास से कोई सही फल नहीं मिलता। इसलिए हमें ऐसे उपाय और साधन अपनाने चाहिए जिनसे हमारे हृदय में वैसा भाव जागृत होने में सहायता मिले। ध्यान के साथ निरन्तर स्मरण उसका सर्वश्रेष्ठ और सुनिश्चित-तम साधन है। ध्यान स्वतः में, अपने द्वारा उपजाई गई चीजों के विघटन की प्रक्रिया है। परन्तु यह ऐसा तभी हो सकता है जब वह दिव्य विचार और दिव्य प्रयोजन से सीधे जुड़ा रहे। ध्यान में हम एक बिन्दु—दिव्यता—पर अपने को समाहित करने का प्रयत्न करते हैं, और सब की उपेक्षा कर देते हैं। कालान्तर में जब हम उससे दृढ़तापूर्वक जुड़ जाते हैं, तो वे हमारे मन से

हल्के होकर लुप्त होने लगते हैं और इस तरह जो कुछ हमने संग्रह कर रखा था उससे हम मुक्त हो जाते हैं। इस बिन्दु पर अपने गुरुदेव के विचारों को बताना संगत होगा :—

"समर्पण की बोधपूर्वक भावना अपने साथ अहं चेतना को भी पुष्ट करती है। उस विचार के अभाव का अर्थ है समर्पण का विस्तार। अब प्रश्न यह है उसके लिए क्या उपाय किये जायँ। यदि हम अपने अभ्यास और गुरु के अनुग्रह के द्वारा अपने अन्दर समर्पण का भाव ला सकें तो इससे अच्छा क्या? गुरु की शक्तियाँ केवल तभी तक अभ्यासी की सहायता करती हैं जब तक दिव्य अनुग्रह का प्रवाह उसकी ओर नहीं हो जाता। जब ऐसा हो जाता है तब उनका उत्तरदायित्व बहुत कम हो जाता है, यद्यपि समाप्त नहीं होता। लोग ईश्वरीय अनुग्रह के लिए अत्यधिक लालायित रहते हैं और यह ठीक भी है क्योंकि प्रति-क्षण इसकी अपेक्षा रहती है। पर उन्हें यह नहीं पता रहता कि प्रारम्भिक चरणो में यह केवल गुरु के माध्यम से उनमें संचारित होता है। पर इसको किस प्रकार आमन्त्रित किया जाय यह साधारणतः प्रकट नहीं किया जाता। यह केवल उसी के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है जिसके अन्दर यह विद्यमान हो, बल्कि उसके द्वारा जो इसमें निमज्जित हो। इतनी सरलता-पूर्वक यह इस तरह मिल सकता है! पर इसके लिए यह अनिवार्य है कि गुरु भी उच्च कोटि का हो। ईश्वरीय अनुग्रह

प्राप्त करने की समस्या इस तरह सुलझ जाती है। पर अगला प्रश्न है कि इससे हम कैसे लाभान्वित होते हैं। ईश्वरीय अनुग्रह अभ्यासी को समग्र जीवन-शक्ति को रूपान्तरित करता है और अभ्यासी उसमें अधिकाधिक डूबता या लीन होता जाता है।

सहज मार्ग में हम पहले दिन से ही इससे प्रारम्भ करते हैं। अभी हमने समर्पण की गणना ही नहीं की है और हम उस अवस्था में पहुँच गये जहाँ अस्तित्व मात्र विघटित या निषेधित हो जाता है। अब स्वयं निर्णय कर लो कि यह सच्चे अर्थ में समर्पण है कि नहीं। ब्रह्म में आत्मसात् होना समग्र क्रियाशीलता का अन्त है और समर्पण उसके लिए पहला कदम है।"

(४) ध्यान में कुछ सामान्य भूलें

सहज मार्ग पद्धति के अन्तर्गत अपनायी जाने वाली प्रक्रिया हृदय पर ध्यान, वहाँ पर ईश्वरीय प्रकाश की उपस्थिति का चिन्तन, है। यह एक सरल प्रक्रिया है पर कभी-कभी व्यक्ति व्यक्ति के विचारों की जटिलताओं के कारण, उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं और उनके कारण अभ्यासी उसका पूरा लाभ पाने से वंचित रह जाता है। इस विशेष प्रयोजन से, इस प्रक्रिया के कुछ तकनीकी बिन्दुओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है, जिन्हें सामान्यतः गलत ढंग से समझ लिया जाता है।

सबसे पहले हमें यह साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि हमारा आशय ध्यान करना है, एकाग्र होना नहीं। एकाग्रता से, हमारे मन में किसी एक ही वस्तु पर अवधान दृढ़ता से जमाने का विचार आता है। इसके कारण स्वभावतः हम मन के दमन या उससे असंगत विचारों का निकाल बाहर करने के लिए प्रेरित होते हैं। लेकिन अनुभव बताता है कि ऐसा करने के लिए हम जितना ही ज्यादा जोर लगाते हैं हृदय में उतनी ही प्रबल प्रतिक्रिया होती है और विचारों की ठेलाठेली उतनी ही तीव्र हो जाती है। इसलिए अभ्यासी लगातार एक मानसिक संघर्ष में फँस जाता है और वस्तुतः कोई ध्यान नहीं होता। हम ध्यान से प्रारम्भ करते हैं और जब उसमें लीन हो जाते हैं तब हम समाधि की प्रारम्भिक अवस्था या एकाग्रता में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता को ऊपर वर्णित एकाग्रता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऊपर वर्णित एकाग्रता में संकल्प-शक्ति लगानी पड़ती है। पर बाद में वर्णित एकाग्रता के लिए अभ्यासी को अपने अन्दर संघर्ष नहीं करना पड़ता। यह उस ध्यान का स्वाभाविक परिणाम है जिसमें अभ्यासी की चेतना एक विचार या भाव में डूब जाती है। इस प्रकार सहज एकाग्रता ध्यान के पीछे पीछे यथोचित क्रम में आती है। इसलिए शुरू में ही एकाग्रता पाने की कोशिश करना गलत विधि होगी। अतः एकाग्रता के विचार से दूर रह कर अभ्यासी को सीधी सहज विधि से ध्यान का अभ्यास करना

चाहिये । ध्यान में बार बार चिन्तन का भाव निहित है। शुरू के दिनों में हो सकता है कि यह कुछ व्यवच्छेदों और अवरोधों के साथ हो, पर कुछ समय बाद अवचेतन मन में बोधहीन विचार की निरवच्छिन्न शृङ्खला बन जाती है। यही ध्यान का सही स्वरूप है। इस दृष्टि से, एकाग्रता के लिए तनिक भी प्रयास किये बिना, हमें ध्यान करना चाहिए और बहुत साधे ढंग से, सारे शारीरिक और मानसिक दबावों से बचते हुये, उसे करते रहना चाहिए।

दूसरी भूल जो अभ्यासी को भ्रान्त कर देती है—जैसा वह प्रायः शिकायत भी करता रहता है—यह है कि वह प्रकाश को देख नहीं पाता या हृदय की सही स्थिति नहीं निर्धारित कर पाता। यह केवल समझने की भूल है। इस उद्देश्य के लिए जो आवश्यक है वह प्रकाश का दर्शन नहीं बल्कि केवल कल्पना के रूप में उसकी एक हल्की धारणा है। जो प्रकाश के दर्शनार्थ बेचैन रहते है उनकी मंशा उसे एक पार्थिव स्वरूप देने की होती है, जो स्वभावतः उनकी कल्पना का फल होता है। इस प्रकार यदि कुछ दिखाई भी पड़ता है तो वह कृत्रिम होता है, असली नहीं। इसके अतिरिक्त, प्रकाश हमारा ध्येय नहीं है। इसे तो हम केवल अपना विचार टिकाने के लिए एक आधार के रूप में ग्रहण करते हैं, ताकि इससे प्रारम्भ कर हम वास्तविक प्रकाश या महिमा के स्वामी के पास पहुँच सकें। इस तरह हमारा आशय गुण

से सार तक, प्रतीयमान से यथार्थ तक, पहुँचने का रहता है। इसलिए इसका कोई महत्त्व नहीं कि हमें प्रकाश दिखता है या नहीं। इसलिए सही क्रम होगा आहिस्ते से हृदय का ओर ध्यान मोड़ना और वहाँ प्रकाश की कल्पना करना। हृदय की ठीक स्थिति निर्धारित करने या प्रकाश के दर्शन करने का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

एक और कठिनाई जो कभी कभी आती है, वह ध्यान के समय बोध के बने रहने को लेकर है। सामान्यतः होता यह है कि विषय की बोध-पूर्वक धारणा के साथ ध्यान प्रारम्भ करने के कुछ समय बाद, वह धीरे धीरे प्रतीयमान विस्मृति की अवस्था में अपवहित हो जाता है। ऐसी दशा में अभ्यासी सामान्यतः मान लेता है कि मैं कुछ समय के लिए (ध्येय से) बहक गया था और उतनी देर तक ध्यान में रुकावट पड़ी। पर ऐसा होता नहीं। जब तक हमारा विचार भौतिक मन से जुड़ा रहता है तभी तक होश बना रहता है। पर ज्यों ही वह चेतना की विशुद्ध तहों में अधिक गहरा घुसता है, त्यों ही शारीरिक बोध लुप्त हो जाता है, यद्यपि अवचेतन मन में अनजाने ध्यान होता रहता है। ऐसी स्थिति में करना केवल इतना ही है कि जब कभी किसी को लगे कि मैं बहक गया था, अपनी पूर्व अवबोधावस्था की तनिक भी चिन्ता न कर, ध्येय की ओर धीरे से अपना मन वह फिर से मोड़ ले और फिर ध्यान करने लग जाय।

एक और, कदाचित् सबसे गम्भीर, भूल ध्यान के समय विचारों की भरमार को लेकर है। अभ्यासी को इसी के कारण सबसे अधिक खीझ आती है, यद्यपि ऐसा है नहीं यदि इसके साथ ठीक ढंग से पेश आया जाय। विचारों का अनवरत प्रवाह केवल ध्यान के समय ही नहीं बल्कि प्रतिक्षण चलता रहता है। पर ध्यान के समय इसका विशेष अनुभव इसलिए होता है कि उस समय हम सारे विचारों से अपने को रिक्त करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में हम अपने चेतन मन में विचार-शून्यता का निर्माण करना चाहते हैं। अब, जैसे निर्वात की ओर हवा की झपट बहुत तेज होती है ठीक उसी प्रकार विचार-शून्यता की ओर विचारों की गति बहुत तीव्र होगी। चेतना की अधिक गहरी परतों में विचारों का एक विशाल भण्डार दबा पड़ा रहता है। जब ध्यान के प्रभाव से चेतन मन में एक शून्यता बन जाती है तब दबे पड़े हुए विचार उठ खड़े होते हैं और कुछ अंशों में हमारी स्थूल चेतना को प्रभावित करते हुए उस शून्यता में जबरदस्ती आ धमकते हैं। अव्यवस्थित होने के कारण मन भी उनके संग चल पड़ता है और इस तरह सभी तरह के कष्टों और बाधाओं को उत्पन्न करता है। अभ्यासी को खीझ वस्तुतः विचारों के उठने से नहीं, उन पर अत्यधिक ध्यान देने से होती है; उसी से वह उनकी सीधी टक्कर में आ जाता है। इस तरह की प्रतिक्रिया विचारों को और शक्तिशाली बना देती है और कष्ट बढ़ जाते हैं।

इस स्थिति से निपटने के लिए जो प्रक्रिया सामान्यतः सुझाई जाती है वह जबरदस्ती के नियन्त्रणों और शारीरिक यातनाओं के द्वारा मन का दमन। मन को सामान्यतः दुर्दान्त घोड़े के समान बताया जाता है जिसे वश में रखने के लिए एक मजबूत चाबुक की जरूरत पड़ती है। लेकिन चाबुक मन की असत् वृत्तियों को थोड़े समय के लिए दबाये रखने और उन्हें क्रियाशील न होने देने में साधन बन सकता है। दूसरे शब्दों में, बुराई ज्यों की त्यों अन्दर बनी रहती है और केवल उसके बाह्य प्रभाव पर रोक लगती है। यह कहाँ तक कारगर हो सकता है यह गम्भीर सन्देह का विषय है, जब तक कि मन को उसी तरह चलने के लिए शरीरतः अशक्त न कर दिया जाय—क्योंकि जब कभी संयोग से नियन्त्रण में ढिलाई आती है, अन्दर दबी बुराई का विष किसी भी समय अपना प्रभाव दिखलाना शुरू कर सकता है। इसका अर्थ है जीवन भर संघर्ष जिसमें हार और असफलता के सारे जोखिम निहित है। इसके अतिरिक्त, मन के अवरोधन द्वारा शारीरिक दमन से आन्तरिक जड़ता आती है जो मन को सूक्ष्मतर तलों तक उठने में अक्षम कर देता है। वस्तुतः हमारे प्रयोजन के लिए उपयुक्त साधन मन का नियन्त्रण नहीं बल्कि उसकी सही गढ़न और उसकी क्रियाओं का समुचित नियमन है। यह चाबुक के प्रयोग से नहीं, बल्कि केवल आन्तरिक निर्मलोकरण की प्रक्रिया द्वारा बुराई के विरेचन से होता है। मनुष्य

की वास्तविक सत्ता के रूपान्तरण का यही एकमात्र कारगर उपाय है।

दुर्भाग्यवश, अध्यात्म में लोगों का मार्ग प्रदर्शन का दावा करने वाले गुरुओं में कुछ ऐसे गुरु हैं जो विचारों के दमन के लिए अपनी पार्थिव इच्छा-शक्ति को लगाते हैं जिससे मूर्छा की अवस्था उत्पन्न हो जाय। अभ्यासी, जिसमें इसका सच्चा आशय पहचानने की क्षमता नहीं होती, बहुत प्रभावित हो जाता है क्योंकि इसमें एक ऐन्द्रिक सुख मिलता है जिसे बिल्कुल गलत तौर पर आनन्द समझा जाता है। इन्द्रियों के कार्य-संपादन से सम्बद्ध किसी भी तत्त्व से सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता और यह तो केवल इन्द्रियों का खेल है और अध्यात्म के क्षेत्र से बहुत दूर हैं। निलंबन[१] की अवस्था, जिसे साधारणतया भ्रमवश शान्ति मान लिया जाता है, उसी तरह एक और गम्भीर भूल है। वह क्लोरोफार्म के प्रभाव से उत्पन्न संज्ञाहीनता से कही मिलती अवस्था है और इसलिए किसी भी तरह, तनिक भी आध्यात्मिक नहीं है। इसके अतिरिक्त, विचारों का निलंबन एक और कारण से भी बहुत हानिकारी है। यदि दबे पड़े विचारों को मन में दबाये रक्खा जाता है तो भोग अर्थात् उनके निःशेष होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। भोग की प्रक्रिया पूरी होने के

---

१. Suspension

पूर्व जन्म-मरण से छुटकारा नहीं हो सकता। इस तरह विचारों का निलंबन सदा के लिए मोक्ष का द्वार बन्द कर देता है।

अपने आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए हमें अपने को यथासम्भव विचारों से रहित कर देना आवश्यक है पर यह दमन से कभी नहीं हो सकता। यह होता है मन से इस विष को बाहर फेंकने से, जिससे विचारों की नयी सृष्टि रुक जाती है। दबे हुये विचारों के उभरने से भोग द्वारा उनका भण्डार क्षीण होता है। इस तरह कालान्तर में अभ्यासी उनसे मुक्त होकर साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। इस तरह उसका चित्सरोवर लहरों से मुक्त हो जाता है और उसके अन्दर पूर्ण शान्ति व्याप्त होने लगती है।

इसलिए ध्यान के समय मन में उठते हुये विचारों पर तनिक भी ध्यान न देना, उनसे उदासीन हो जाना, उन्हें अनिमन्त्रित अतिथिवत् मानना, उचित क्रम होगा। इस प्रकार उनकी तीव्रता समाप्त हो जायेगी और वे अशान्ति के कारण भी नहीं रहेंगे।

—:०:—

अध्याय ५
सहज मार्ग

श्री रामचन्द्र मिशन

मिशन का नाम महान् गुरु, फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) के समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचंद्रजी महाराज के नाम पर पड़ा है, जिनका जीवन आध्यात्मिक जागरण के एक नये युग को अंकित करता है। उन्होंने युग की आवश्यकता और लोगों की क्षमता के अनुरूप योग की विधियों का पुनर्निर्माण और सुधार करके उनके द्वारा लोगों को अध्यात्म में प्रशिक्षित किया। वे दीर्घकाल से विस्मृत प्राणाहुति अर्थात् यौगिक संप्रेषण की पद्धति को प्रकाश में लाये। यही मिशन में गृहीत पद्धति का शिलाधार है। मिशन की स्थापना वर्ष १९४५ में उनके उत्तराधिकारी और प्रतिनिधि, शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) के परमपूज्य महात्मा श्री रामचन्द्रजी ने की। उनके द्वारा व्याख्यायित पद्धति सहज मार्ग अर्थात् प्राकृतिक मार्ग के नाम से ज्ञात है। यह उनके वास्तविक और व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित योग का एक दुर्लभ रूप है। मिलावट या अतिशयता से रहित विशुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार यह मार्ग संचालित होता है। यह सबसे सीधा, फिर भी सबसे अधिक प्रभावकारी है। यह आज के

सामान्य जीवन में बहुत आसानी से खप सकता है। आत्मानुभूति[1] का यह सबसे पक्का और छोटा रास्ता है और इस हिसाब से दु:खग्रस्त मानवता के लिए यह वरदान है।

योग के सम्बन्ध में भ्रांत धारणायें

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग ही एकमात्र मार्ग माना गया है जो अध्यात्म के बहुत समरूप है। पर यह कहना कि यह सांसारिकता के अतिजड़कारी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है युक्तियुक्त तर्कों के आधार पर स्वीकार करने योग्य नहीं है। पतंजलि के योग के प्रारम्भिक चरण केवल शारीरिक हैं और उसी सीमा तक उपयोगी हैं। सच्ची साधना धारणा से आरम्भ होती है और धारणा ध्यान और समाधि को समाविष्ट करती है। इनकी प्रकृति सच्चे अर्थ में आध्यात्मिक हैं। पहले के पाँच चरण बाद के तीन चरणों के लिए केवल तैयारी के आधार का काम देते हैं। योग को संहत रूप में प्रवर्तित करके महर्षि ने नि:सन्देह मानवता की महान् सेवा की है जिसके लिए उनको पूरा श्रेय मिलना चाहिए। पर उनके समय की आवश्यकता के लिए जो सर्वश्रेष्ठ रहा होगा, हो सकता है कि वह आज संसार की बदली दशा में पूर्णरूपेण उपयुक्त और समायोज्य

---

१. Realisation

न हो। पुराने नियमों के अन्तर्गत कठोर तप और प्रायश्चित्त की जो विधियाँ अनिवार्य मानी जाती थीं, वे आधुनिक जीवनक्रम से मेल नहीं खातीं। इसलिए जनसाधारण के लिए यह प्रणाली हमेशा अरुचिकर रही। ऐसा इस कारण भी हुआ कि इस प्रणाली पर अभ्यासहीन आचार्यों और सिद्धान्त-प्रतिपादकों ने कई फालतू उलझनें लाद दीं। पर कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं जो योग का अभ्यास केवल शारीरिक व्यायाम के रूप में, पेशियों और स्नायुओं के गठनार्थ या किन्हीं अलौकिक शक्तियाँ पाने के लिए, कर रहे हों। वे केवल आसन और प्राणायाम जैसी शारीरिक कसरतों को करते रहते हैं पर शायद सूक्ष्मता की ओर वे इंच भर भी नहीं बढ़ पाते। उनके लिए सर्वोच्च उपलब्धि शायद मूर्छावस्था है जो मन और इन्द्रियों के अवरोध से आती है। इसी को वे झूठमूठ समाधि बताते हैं।

योग का चरम ध्येय जीवन की सूक्ष्मतम अवस्था की प्राप्ति है, जो ईश्वर की अवस्था के सदृश हो। इस प्रयोजन के लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है उनका भी सूक्ष्मतम और बिलकुल स्वाभाविक होना आवश्यक है जिससे हमारे अन्दर उसी प्रकार की सूक्ष्मता का सर्वाधिक विकास हो। जड़कारी साधनों का प्रभाव निश्चयतः जड़कारी होगा और यह अन्ततः हानिकर होगा। अतः महर्षि पतंजलि द्वारा संगृहीत योग पद्धति का इस दृष्टि से संशोधन करना आवश्यक है कि वह जड़कारी प्रभावों

से मुक्त हो जाये और अल्पतम समय में सूक्ष्मतम परिणाम निश्चयतः लाये।

नई विचार-धारा

सहज मार्ग में ऐसा ही है। वस्तुतः यह पातंजल-योग का पूरा कायकल्प है—इसमें से सारे शारीरिक, गुह्य और रहस्यमय प्रयोग निकाल बाहर किये गये हैं और यह जरा भी मिलावट के बिना शुद्ध आध्यात्मिक नियमों से संचालित होता है। इस तरह, एक नया दर्शन उपस्थित करने के कारण विश्व-चिन्तन में इसका बहुत मूल्यवान् योगदान है। यह सारी दर्शन पद्धतियों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है और फिर भी इसका अपना अलग अस्तित्व है। वेदान्त दर्शन के प्रवर्तन के बाद वस्तुतः इस शाखा में कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई, यद्यपि विविध अटपटे ढंगों से उन्हीं पुराने विचारों को बहुत कुछ गढ़ा या तोड़ा मरोड़ा गया। अधिकांश टीकाकारों ने तर्क और बुद्धि द्वारा इसमें प्रवेश पाना चाहा, इसमें व्यावहारिक अन्तदृ ष्टि पाने का कोई प्रयास नहीं किया। अतः वे इसका एक बहुरंगी चित्र मात्र उपस्थित कर सके जिससे भ्रम और भेद उत्पन्न हुये। सामान्य स्तर के तर्क से किसी सांसारिक समस्या को समझा जा सकता है और उसके ऊपर, असाधारण मस्तिष्क के प्रयासों द्वारा, एक ठोस सिद्धान्त बनाया जा सकता है। पर ईश्वर और आत्मा से सम्बन्धित सूक्ष्मतर समस्याओं के लिए जो सदा

भारतीय दर्शन का आधार रही हैं, ऐसा नहीं होता। उस पक्ष को ध्यान में रख कर भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव पर अधिक, और तर्क और अनुमान पर कम, निर्भर रहता है। यहाँ गुरुदेव के विचार व्यक्त करना अप्रासंगिक नहीं होगा। इनके अनुसार आधुनिक दार्शनिकों की यह धारणा कि दर्शन का प्रारम्भ संदेह से होता है इस कारण गलत है कि इसमें ऐसे ज्ञान की पूर्वकल्पना निहित है, जो स्वतः अपने में दोषपूर्ण और भ्रामक हो सकती है। वस्तुतः दर्शन का सच्चा आधार—जैसा लोग कहते हैं, संदेह नहीं—बल्कि विस्मय है। विस्मय में अज्ञान और कुतूहल के भाव निहित हैं और केवल वही पदार्थों के सार तक, विचारों की मिलावट बिना, पहुँचने का कारगर आधार हो सकता है।

इस प्रकार दर्शन के तर्क और अनुमान का विषय न होने से, उस आधार पर उसमें कमी या वृद्धि करने से भारतीय दार्शनिक जान बूझ कर दूर रहे, जब तक कि दर्शन में सन्निहित उच्चतर चेतना के विविध सूक्ष्म तलों के अनुभवों से गुजरने के बाद दार्शनिक के अन्दर उसके प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण न विकसित हो गया हो। अस्तु, अब यह युग की आवश्यकता और दैव की इच्छा है जो मानवता के उद्धार के लिए ऐसी उच्चतर आत्माओं को संसार में अवतीर्ण कराती है। सौभाग्यवश वह समय अब आ गया है और सहज मार्ग संसार

के सम्मुख व्यावहारिक दर्शन की एक नयी पद्धति उपस्थित करता है जिसका लक्ष्य है जन-साधारण की क्षमता और हमारे युग की आवश्यकता के उपयुक्त सबसे सरल और सीधे साधनों से परब्रह्म का अनुभव करना ।

सहज मार्ग का वैज्ञानिक आधार

विज्ञान और तर्क के वर्तमान युग में साधारण आदमी को शायद कोई भी बात तब तक नहीं जँचती जब तक वह वैज्ञानिक भाव और भाषा में नहीं प्रस्तुत की जाती। प्रचलित अर्थ में 'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ है 'वह जो भौतिक पर्यवेक्षण के लिए प्रयोगशाला के परीक्षण में पक्का निकलता है।' लौकिक पक्ष में यह सही सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसमें पदार्थ के केवल स्थूल स्वरूप का विचार होता है पर आत्मा से सम्बन्धित सूक्ष्मतर समस्याओं का विज्ञान के पास कोई समाधान या कसौटी नहीं है। वस्तुतः विज्ञान अध्यात्म से बिलकुल अलग एक सर्वथा भिन्न विषय है। अध्यात्म का आधार सूक्ष्म अनुभवों का आन्तरिक बोध है। इस प्रकार सहज मार्ग, जो राजयोग के सार तत्त्व पर टिका है, पूर्णतः वैज्ञानिक है।

मन जो मनुष्य की जीवन-शक्ति है समग्र मानवी क्रियाओं का केन्द्र है। अनवरत सक्रिय रहने से यह बराबर व्यस्त रहता है और आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार की समस्याओं और

उलझनों की सृष्टि करता रहता है। मानव जीवन में सक्रियता की अनेक अवस्थायें हैं जिन्हें मोटे-मोटे दो भागों में—सांसारिक और आध्यात्मिक—बाँटा जा सकता है। सामान्यतः अधिकतर लोग जीवन का सांसारिक स्वरूप ही ग्रहण करते हैं और अध्यात्म की सर्वथा उपेक्षा करके सांसारिक पक्ष से ही चिपके रहते हैं। पर कुछ लोग, विशेषकर भारत में, ऐसे होते हैं जो सांसारिक पक्ष की एकदम अवगणना करके अध्यात्म से एकान्ततः जुड़े रहते हैं। सच तो यह है कि मानव जीवन एक अखंड समग्र है जिसमें इसको सारी विभिन्न अवस्थायें समाविष्ट हैं जिनको जीवन में अपना उचित स्थान मिलना चाहिये और जिनको कर्तव्य-भाव से निभाना चाहिये। परिणामस्वरूप एक का सांसारिकता के लिए अध्यात्म की या दूसरे का अध्यात्म के नाम पर सांसारिकता की उपेक्षा करना, किसी प्रकार उचित नहीं है। दोनों समान रूप से गलत और गुमराह हैं। इसलिए सहजमार्ग, एक दूसरे के साथ चलते हुए दोनों पक्षों को उचित अनुपात में रखते हुए, एक समन्वित जीवन शैली की अनुशंसा करता है। उसका अर्थ है सांसारिक और दैवी जीवन का समन्वय। वह परित्याग, उग्र तपस्या और दमन की प्रक्रियाओं में निहित अप्राकृतिक विधियों में से किसी का भी समर्थन नहीं करता। सिद्धियों और शक्तियों के विकास के प्रयासों को वह निरुत्साहित करता है। सही अर्थ में, सहज मार्ग मनुष्य के

सांसारिक कर्त्तव्यों को आध्यात्मिक कर्त्तव्य का एक भाग मान कर सांसारिक और दैवी जीवन का समन्वय करता है, या दूसरे शब्दों में सांसारिक जीवन को दैवी जीवन में यथासंभव सरलतम ढंग से परिवर्तित करता है। और इसके लिए वह एक सीधी और सहज विधि प्रस्तुत करता है जो आज के सामान्य जीवन में सरलता से ग्रहण किया जा सकता है।

इस पद्धति में, सच्चे गुरु के आश्रय और निर्देशन में ध्यान को छोड़कर, वस्तुतः और कोई विधियाँ निर्धारित नहीं हैं। कोई कर्म-काण्ड या धर्मानुष्ठान नहीं हैं। विधि और निषेध बहुत थोड़े हैं। 'देने और पाने' या 'करने और अनुभव प्राप्त करने' की यह व्यावहारिक प्रक्रिया है, केवल 'पढ़ने और मजा लेने' या 'सुनने और मानने' की नहीं। इसमें विश्वास या अविश्वास करने जैसा कुछ है ही नहीं; हर बात बहुत साफ़ और सीधी है; हर किसी के द्वारा, जो ऐसा चाहता है, अनुभव करने योग्य है। इस पद्धति की विधि इतनी स्वाभाविक और कारगर है कि निम्नतम कोटि के मनुष्य के लिए भी इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि वह एक क्षण में अपने मलिन आवरणों से मुक्त होकर अद्भुत गति से मोक्ष-मार्ग पर बढ़ जाय।

लक्ष्य

युग की आवश्यकता और प्रकृति की माँग के अनुरूप, बिना धर्म, वंश या राष्ट्रीयता के भेद के, समग्र मानव जाति का

आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन इस पद्धति का लक्ष्य है। विश्व की समग्र विविध समस्याओं का समाधान मनुष्य के आध्यात्मिक जागरण में निहित है, जो केवल उचित आध्यात्मिक प्रशिक्षण द्वारा घटित हो सकता है। वास्तव में घोर भौतिकता से गहरा लगाव बुराई का मूल है। यदि वह समाप्त हो जाय तो एक क्षण में हमारी सारी समस्यायें सुलझ जाँय। यह केवल दिव्य चेतना में आध्यात्मिक ढंग की अनवरत जीवन-शैली अपनाने से समाप्त हो सकता है। स्थूलतम सत्ता के वर्तमान तल से सूक्ष्मता के उत्तरोत्तर उच्च तलों की ओर यथासंभव सुदूरतम सीमा तक हमारी यात्रा ही अध्यात्म है। निर्विकार सूक्ष्मता की उस अंतिम अवस्था को प्राप्त करना और उसमें स्थायी रूप से स्थित रहना सहजमार्ग का चरम लक्ष्य है।

इस मार्ग की कार्य-प्रणाली

प्राणाहुति (यौगिक संप्रेषण) द्वारा प्रदत्त दिव्य अन्त:प्रेरणा अभ्यासी के मन को प्रभावित करती है और उसे उच्चतर चेतना की अवस्था में लाने में सहायक होती है जिसके परिणामस्वरूप वह आन्तरिक जागरण का अनुभव करने लगता है। मन की वृत्तियाँ दिव्यता की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने लगती हैं और वह पहले की अपेक्षा अधिक शांति का अनुभव करने लगता है। इस मार्ग में आध्यात्मिक प्रगति की ओर यह पहला कदम है। अब इस तरह प्रदत्त अन्त:प्रेरणा चेतना की अधिक

गहरी परतों पर, जो 'सत्ता' के विशुद्ध रूपों से सम्बद्ध होती हैं, प्रभाव डालने लगती है। सामान्यतः प्रारम्भ में चेतन मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, सिवाय उन कुछ विशेष मामलों के जहाँ यह सर्वथा आवश्यक होता है। अन्तःप्रेरणा का प्रभाव, दिव्य संस्कार उत्पन्न करते हुए, कारण-कोष में जमाया जाता है। बहुत गहरे तलों में दबे नन्हें बीजों के रूप में संस्कार कालान्तर में भोग के लिए अंकुरित होने लगते हैं। शीघ्र भोग प्रक्रिया स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और परिणामस्वरूप अन्तःप्रेरणा का प्रभाव फैलने लगता है। कुछ समय बाद यह सूक्ष्म मन तक और फिर स्थूल मन तक फैल जाता है; जिससे स्थूल मन का उसी के अनुरूप गठन होने लगता है। सामान्यतः इस तल पर अभ्यासी अपनी आन्तरिक वृत्तियों में कुछ सूक्ष्म परिवर्तनों का अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि शुरू में कुछ समय तक अभ्यासी अन्तःप्रेरणा के प्रभाव का अनुभव नहीं करता। पर इस तरह उत्पन्न किया हुआ प्रभाव गहरा और स्थायी होता है क्योंकि प्रक्रिया के अपकेन्द्रीय होने से उसका प्रभाव केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ता है। मन की गढ़न, बिना किसी शारीरिक श्रम या मानसिक भार के, अति सहज ढंग से होती रहती है। अनवरत अभ्यास के बाद, चेतन मन भी उच्चतर चेतना में लीन होने, और वस्तुओं की यथार्थता का अनुभव करने, लगता है। इससे उसके अंदर यथार्थ और मिथ्या का

अन्तर पहचानने का विवेक स्वतः विकसित होने लगता है। फलतः हमारे लिए भौतिक जगत की बदलती चीजों का आकर्षण समाप्त होने लगता है और हम मूल सत्य से दृढ़तापूर्वक जुड़ जाते हैं। इसका अर्थ है वैराग्य जो सच्चे अर्थ में मन की एक दशा है। यह दशा अन्दर से विकसित होती है, परिस्थितियों द्वारा जबरदस्ती लाई नहीं जा सकती। सहज मार्ग कल्पित शारीरिक निरासक्ति को सच्चे ढंग के वैराग्य के रूप में आरोपित करने का समर्थन नहीं करता। इसका अर्थ न तो संपत्ति न रखने से है न खुद की, समाज की और संसार की जिम्मेदारी और काम से छुट्टी है। यह तो जीवन से जुड़े सांसारिक विषयों के प्रति निरासक्ति की एक आन्तरिक भावना है। जब हमें अतिशय आसक्ति से मुक्ति मिल जाती है, तो सांसारिक मामलों में हमारी क्रियायें कर्तव्य का रूप ले लेती हैं। आकर्षण और विकर्षण से मुक्त 'कर्तव्य के लिए किया गया कर्तव्य' ही उच्चतम भक्ति है। जैसे-जैसे ठीक ढंग से और सही निर्देशन में कोई ध्यान के अभ्यास में प्रगति करता है, वैसे-वैसे यह अवस्था स्वतः अन्दर से विकसित होती जाती है। इस मार्ग में यह प्रारम्भ की उपलब्धि है यद्यपि साधारण नहीं है। इसका सीधा फल निरभिलाषा है जिससे संस्कारों का बनना घटने लगता है और अन्त में बन्द हो जाता है। नव-निर्माण के बन्द हो जाने से केवल पूर्व-निर्मित संस्कारों का भोग भोगने के लिए

शेष रहता है। ऐसा स्वाभाविक क्रम में होता रहता है यहाँ तक कि वे सारे संस्कार दग्ध हो जाते हैं—कुछ हद तक अभ्यासी की भक्ति से, पर अधिकतर गुरु की शक्ति से। संस्कारों के भंडार के इस तरह चुक जाने पर अभ्यासी जन्म-मरण के अनन्त चक्र से छूट जाता है। पर यही साधना का अन्त नहीं है। उच्चतर और सूक्ष्मतर तलों की यात्रा चलती ही रहती है।

प्राचीन योग-मार्ग से तुलना

(१) प्राचीन योग मार्ग में ईश्वर की धारणा सारे गुणों और भेदों से परे एक परम सत्ता की है। धर्म द्वारा धारित निम्नस्तरीय अवधारणा तक वह अपने को सीमित नहीं करती। सहज मार्ग इस मत से सहमत रहते हुए भी, और आगे जाता है। अस्तित्व मात्र के केन्द्र या शून्य बिन्दु—सर्वाधार—रूप में; शक्ति, क्रिया और चेतना से भी रहित, इश्वर विषयक उसकी संकल्पना और भी सूक्ष्म है। विशुद्ध अस्तित्व की इस अति सूक्ष्म अवस्था—अनस्तित्व को—मिशन की शब्दावली में 'भूमा' नाम से जाना जाता है और यही सहज मार्ग का परम ध्येय है।

इस मार्ग का लक्ष्य चरम सूक्ष्मावस्था में पूर्ण विलयन या असीम ब्रह्म से एकात्मता है। यह तभी प्राप्त हो सकता है जब सत्ता की जड़ता से, यथासंभव अन्तिम सीमा तक, छुटकारा मिले और दासता से पूर्ण मुक्ति।

असीम कारणहीन अवस्था से एकात्मता केवल ध्यान द्वारा, जो सही और सहज ढंग से किया जाता है, प्राप्त हो सकती है। इसके लिए सभी मामलों में उच्च कोटि के योग्य गुरु की सहायता और सहारा आवश्यक और अनिवार्य है, जो स्थायी रूप से चरम अवस्था में निमग्न हो।

(२) जो सरलतम और सूक्ष्मतम है उसकी प्राप्ति के लिए पेचीदा साधनों और जटिल विधियों को काम में लाने के प्राचीन मत से सहज मार्ग सहमत नहीं है। केवल सरलतम साधन ही सूक्ष्मतम परिणाम ला सकते हैं। मेरे गुरुदेव के शब्दों में, यदि कोई क्रेन से सुई उठाना चाहे तो ऐसा कर पाना प्रायः असम्भव होगा। सीधे उपाय वही हैं जो जबरदस्ती के आरोपण और अप्राकृतिक प्रयोगों से, जिनका लक्ष्य मन और इन्द्रियों का दम घोटना है, मुक्त हों। ऐसे साधन वे ही हो सकते हैं जिनका प्रकृति के साथ पूर्ण तदात्म्य हो और मनुष्य के सामान्य जीवन में आसानी से खपने योग्य हों।

(३) सहज मार्ग जबरदस्ती लाई गई निरासक्ति को सच्चा वैराग्य मानने के पक्ष में नहीं है। बलात्कृत निरासक्ति से अलगाव का कृत्रिम भौतिक वातावरण बनता है, जिसका मन की आन्तरिक वृत्तियों से कोई संबंध नहीं रहता। सच्चे अर्थ में वैराग्य मन की एक आन्तरिक अवस्था है जिसमें ऐन्द्रिक अभिलाषाओं

से लगाव नहीं रह जाता। फलस्वरूप व्यक्ति जीवन में जिन पार्थिव पदार्थों से जुड़ा रहता है उनके प्रति उसकी आसक्ति समाप्त हो जाती है। इसलिये सहज मार्ग ईश्वरीय साधना में गृहस्थ जीवन को कोई अवरोध नहीं मानता। वस्तुतः सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन सहज जीवन के दो पक्ष हैं जिन्हें एक दूसरे के संसर्ग में साथ-साथ चलना है।

(४) योग में, आध्यात्मिक ऊर्जा के जीवन्त केन्द्रों के रूप में चक्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति विशुद्धतर अवस्थाओं की ओर बढ़ता है, वे चक्र जागृत होते जाते हैं। प्राचीन पद्धति में अपनाया गया सामान्य क्रम निम्नतम यानी मूलाधार चक्र से प्रारम्भ होकर ऊपर के अन्य चक्रों की ओर बढ़ता है। परन्तु नीचे के चक्रों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक—का सम्बन्ध पार्थिव ऊर्जा के साथ होने से, उनके जागरण का परिणाम अलौकिक शक्तियों—सिद्धियों और शक्तिओं—का प्रस्फुटन होता है। अधिकांश मामलों में इन शक्तियों का सांसारिक प्रयोजनों में दुरुपयोग होता है और इस तरह योग की अप्रतिष्ठा होती है। ऐसा उन मामलों में अवश्य होता है जिनमें साधक की दृष्टि सूक्ष्मता की प्राप्ति पर नहीं बल्कि शक्ति की उपलब्धि पर, गड़ी रहती है। सहज मार्ग का लक्ष्य शक्ति-प्राप्ति नहीं है। वह पुराने बँधे बँधाये मार्ग से थोड़ा

हट कर चलता है और प्रारम्भ में नीचे के तीन चक्रों को छोड़ कर अनाहत चक्र (हृदय के चक्र) से शुरुआत करता है। इस संशोधन का कारण, शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध चौकसी के अतिरिक्त यह बात भी है कि हृदय मानवीय संरचना का केन्द्र या नाभिक है और इसलिए वहीं से सारे शरीर में रक्त प्रवाहित होता है। उस बिन्दु पर लगातार ध्यान के परिणाम स्वरूप, दिव्य विचारों के स्पर्श से प्रवर्तित पवित्रता और शुद्धता के सूक्ष्म परमाणु वहाँ से प्रवाहित रक्त के माध्यम से सारे शरीर में पहुँचते हैं। इस तरह सारे शरीर के निर्मलीकरण की प्रक्रिया स्वतः और अनजाने चलती रहती है। इसके अतिरिक्त, शुरू में ही हृदय के निर्मल हो जाने से जागृत शक्तियों के दुरुपयोग की सम्भावना बहुत घट जाती हैं। इस चक्र से हमारी यात्रा अन्य उच्चतर चक्रों—विशुद्धि और आज्ञा—की ओर बढ़ती है। इस तरह, सारे चक्रों में से ऊपर के तीन चक्रों तक ही हमारी यात्रा सीमित रहती है। नीचे के तीन चक्रों को अलग से साफ नहीं करना पड़ता बल्कि हृदय से स्वच्छ रक्त के संचरण द्वारा तदर्थ आवश्यक सीमा तक वे स्वतः निर्मल हो जाते हैं। पर जब कभी सच्ची आवश्यकता पड़ती है तो वे परिपक्व होकर, या गुरु की संप्रेषित शक्ति द्वारा, जागृत हो जाते हैं। यह प्रकृति के काम के सिलसिले में होता है जिसे उन्नतावस्था को प्राप्त कोई योगी टाल नहीं सकता।

(५) एक और संशोधन का सम्बन्ध साधन-चतुष्टय (योग के चार साधन) में सन्निहित वेदान्तीय मत से है, जिसमें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व समाविष्ट हैं। विवेक का संबंध यथार्थ और मिथ्या के बीच अन्तर के भाव से है और वैराग्य का सम्बन्ध जो कुछ भी मिथ्या और नश्वर है उस सब के प्रति निरासक्ति भाव से है। ये दोनों, जो साधन नाम से बताये जाते हैं, वस्तुतः दो आध्यात्मिक अवस्थायें हैं जो मन में सही अभ्यास या साधना के प्रभाव से विकसित होती हैं और वैराग्य विवेक का सीधा प्रतिफल है। इसलिए सहज मार्ग विवेक और वैराग्य को योग के दो साधन न मान कर उन्हें छोड़ देता है और वेदान्तियों के तीसरे साधन षट्सम्पत्ति से, जो छः उपलब्धियों को समाविष्ट करती है, शुरूआत करता है। यहाँ भी, कई शीर्षकों में उसके वर्गीकरण को फालतू मान कर वह सीधे जड़—मन के नियमन—से आरम्भ करता है। इस तरह सहज मार्ग के अभ्यासी के लिए षट्सम्पत्ति की छः उपलब्धियों की जगह केवल एक रह जाती है। वह है मन का नियमन, जिससे हर तरह से उसका मतलब पूरा हो जाता है।

(६) पुरानी पद्धति अष्टांग योग के सामान्य क्रम को जिसमें हठयोग और राजयोग दोनो समाविष्ट हैं, निर्धारित करती है। पुराने मत के अनुसार, प्रारम्भिक अवस्था में हठयोग का अभ्यास योग की सफल साधना के लिए आवश्यक और अपरिहार्य माना

जाता था। फलस्वरूप, हठयोग में निर्दिष्ट शारीरिक व्यायाम योग का सारभूत तत्त्व माना जाता था। सहज मार्ग का सरोकार सच्ची साधना से है। उसके अभ्यासी के लिए यह सब इसलिये अनावश्यक है कि इस मार्ग में प्राणाहुति की यौगिक प्रक्रिया के माध्यम से, दैवी अन्त:प्रेरणा की आन्तरिक क्रिया द्वारा उसका आध्यात्मिक विकास संघटित होता है। अत: यह मार्ग अष्टांग योग के आठ चरणों का विचार न करके, केन्द्रीय चरण, ध्यान से आरम्भ करता है और सारी अनावश्यक प्रारम्भिक क्रियाओं की अवगणना कर देता है। सारे क्रम में केवल ध्यान का अभ्यास किया जाता है जिसमें शुरू से अन्त तक के सारे कदम शामिल हैं।

(७) सबसे अन्त में, सहज मार्ग की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशिष्टता प्राणाहुति (यौगिक संप्रेषण) है, जो आध्यात्मिक अध:पतन के वर्तमान युग में घोर भौतिकता के भार तले कराहती रक्तरंजित मानवता के लिए वरदान है। यद्यपि यह कोई नई चीज नहीं है, पर बीच के काल में इसे लोग बिलकुल भूल गये थे—इतना अधिक कि आज शायद बहुत थोड़े लोगों को इस पर विश्वास करने का मन होगा। पर इस पर विश्वास या अविश्वास करने का प्रश्न नहीं है। किसी को इसे परिकल्पना के आधार पर मान लेने को नहीं कहा जाता है। बल्कि इसका व्यावहारिक अनुभव करने की हर किसी को, बिना किसी रोक

टोक के, सदा छूट है और हर कोई जब मन चाहे स्वयं इसका अनुभव कर सकता है।

इन सब कारणों से, दर्शन की नयी विचार-धारा और विश्व-चिन्तन में मूल्यवान योगदान के रूप में, सहज मार्ग मुक्ति का एक अभिनव मार्ग प्रस्तुत करता है। यह बहुत सीधी और स्वाभाविक विधियों से आगे बढ़ता है, जिसे साधारण जन जीवन में सरलतापूर्वक अपनाया जा सकता है। फिर भी जो यथा-सम्भव अल्पतम समय में क्षिप्रतम परिणाम सुनिश्चित करने के लिए सर्वाधिक प्रभावकारी है।

सहज मार्ग की शिक्षायें

(१) परमात्मा (परम तत्त्व) में पूर्ण श्रद्धा रखो और उसी में जीओ।

सत्ता के चरम बिन्दु के रूप में ईश्वर ही यथार्थ मूल है जहाँ से प्रत्येक पदार्थ का उद्‌भव हुआ है। श्रद्धा जीवन का सर्वाधिक जीवन्त तत्त्व है। ईश्वर में श्रद्धा के अन्तर्गत चरम, मूल या ध्येय की जानकारी निहित है, जहाँ हमें अन्त में पहुँचना है और जिसे सारी जीवन-यात्रा-काल में दृष्टि में रखना है। सहज मार्ग में इसे अस्तित्व के केन्द्र या शून्य-बिन्दु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यदि लक्ष्य परब्रह्म है तो सचमुच यही सही धारणा है और इसी को ग्रहण करना चाहिए। ईश्वर

सम्बन्धी निम्नतर कोटि की धारणायें, जैसे देवता या उपदेवता; त्रिमूर्ति के रूप में मुख्य स्रष्टा शक्ति; या ईश्वर (सगुण या निर्गुण) के रूप में उच्चतर सत्ता—एक विशेष तल तक ही ले जा सकती हैं, जो निर्विवादरूप से अन्तिम तल से पहुत पीछे रहता है। इस तरह की अंतिम उपलब्धि निश्चयत: लक्ष्य से पीछे ही रहेगी। इसलिए चरम केन्द्र या शून्य बिन्दु को लक्ष्य बनाते समय इन सारी निम्नकोटि की धारणाओं से ऊपर उठना और मूल मात्र को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है।

अब ईश्वर में जीने से अभिप्राय यथार्थ सत्ता की चरमावस्था के साथ प्रगाढ़ संयुजन से है। वह अवस्था हमारी वर्तमान जीवनावस्था से केवल स्थूलता को लेकर भिन्न है। इसलिए हमारे स्थूलतर स्वरूप का विघटन अथवा सत्ता के सूक्ष्मतम रूप की प्राप्ति मात्र इस प्रयोजन के लिए आवश्यक है।

(२) जीवन के सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को साथ-साथ एक दूसरे के संसर्ग में चलते रहना चाहिये और बिना किसी एक की उपेक्षा किये हुए दोनों पर समान ध्यान देना चाहिये।

आध्यात्मिक उद्देश्य से सांसारिक दायित्वों की निष्ठुर उपेक्षा और आश्रितों का परित्याग आध्यात्मिक पथ के पथिक के लिए प्राय: अक्षम्य है। वास्तव में जीवन के सांसारिक और

दैवी पक्षों के बीच निर्मित अप्राकृतिक गहरी खाई सर्वथा निराधार और अस्वाभाविक है। जीवन एक अखण्ड समग्र है जो जीवन के बहुत दृढ़ अन्तःसम्बद्ध दोनों पक्षों को समाविष्ट करता है। अतः इनका पृथक्करण कभी न्याय्य नहीं हो सकता। वास्तव में सांसारिक जीवन-यापन हमारे ईश्वरीय प्रयोजन के लिए हानिकर नहीं है, हानिकर तो हमारी गलत जीवन-शैलियाँ हैं जो हमारी ईश्वरीय यात्रा में उलझनें पैदा करती हैं। ऐन्द्रिक सुखों और शारीरिक भोगों के लिए अपने भौतिक व्यक्तित्व से हमारा गहरा चिपकाव वस्तुतः सारी बुराई के लिए उत्तरदायी है। अपने समुचित उत्तरदायित्वों की सर्वथा उपेक्षा करके सांसारिक जीवन-यापन से पलायन उसका कोई समाधान नहीं है। व्यावहारिक अनुभव में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सांसारिक जीवन-पद्धति छोड़ने के बाद भी अधिकांश तथाकथित त्यागी सिर से पैर तक सांसारिकता में डूबे रहते हैं।

अतः सहज मार्ग इस तरह के दायित्वहीन और कायरतापूर्ण ढंग से सांसारिक कर्तव्यों से भागने और आश्रितों को अपने दयनीय हाल पर छोड़ देने का समर्थन नहीं करता। यह स्वाभाविक जीवन-यापन की अनुशंसा करता है जो उन सारे संसाधनों से संयुक्त हो जिनकी आवश्यकता, जिस संसार में हम जीते हैं उसके लिये और जिसे अन्ततः प्राप्त करना हमारी

नियति है उस दिव्य जीवन के लिए, होती है। इसका अर्थ है जीवन के सांसारिक और ईश्वरीय दोनों पक्षो का समन्वय।

(३) हर बात को कर्तव्य भाव से ग्रहण करो और आकर्षण या विकर्षण से दूर रह कर निष्ठापूर्वक उसमें लगो।

जीवन का दिव्य जीवन में रूपान्तरण सरलतापूर्वक घटित हो सकता है यदि हम अपने सारे विचारों और कामों को ईश्वरीय संकल्प के अधीन मानें। धन कमाना, आश्रितों का निर्वाह, बच्चों की देखभाल, संबन्धियों, मित्रों और समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह—ईश्वर द्वारा हमको सौंपे गये कर्तव्य के आवश्यक भाग हैं। पर बुराई तब आ घुसती है जब हम उन्हें केवल अपना सरोकार मान लेते हैं, जिसका ईश्वर से कोई लेना देना नहीं है। हम अपने व्यक्तिगत हित या इच्छाओं के प्रभाव में रहते हुए काम करते हैं और फल का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। यही वह असली फँसाव है जो हमें ईश्वरत्व से विलग कर देता है। इसलिए हमारे पास जो कुछ भी है उस सबको भगवान् का मानना और उसे, अपने परिवार मित्रों, संबन्धियों और समाज के सम्बन्ध में सौंपे गये कर्तव्यों के पवित्र निर्वाह में काम में लाना—एक मात्र समाधान है। इससे सभी मामलों में व्यक्तिगत लगाव का भाव दूर हो जायेगा और हम आसक्ति (माया-मोह) से छूट जायेंगे।

(४) सभी प्राणियों को सेवा और त्याग की भावना से प्यार करो।

प्रेम जीवन का आवश्यक तत्त्व है और निश्चयतः उच्चतम परिणाम लाता है। इसीलिए सारी उपासना-पद्धतियों में ईश्वर-भक्ति का इतना आग्रह किया गया है। अब सच्चे अर्थ में ईश्वर का भक्त उसके द्वारा बनाई गयी चीजों के लिए स्वभावतः वैसी ही भावना अपने अन्दर अनुभव करेगा। इसलिये ईश्वर का हमारे प्रेम और भक्ति का विषय होने पर, दूसरे प्राणियों के लिये भी हमारे मन में वैसी ही भावना जागेगी। जब हम उससे सराबोर हो जाते हैं तो यही सार्वजनीन प्रेम की भावना हो जाती है। सेवा और त्याग स्वाभाविक परिणाम के रूप में स्वतः पीछे पीछे आते हैं। अब इस क्रम के उलटा करने पर यदि मनुष्य अपने साथ के प्राणियों की निःस्वार्थ सेवा में, अपने निजी हितों का बलिदान कर, अपने को समर्पित कर देता है तो ईश्वरीय प्रेम उसके हृदय में और गहरी जड़ें पकड़ लेगा।

(५) हर किसी को अपना सगा मानते हुए उसे उसका यथोचित पावना दो।

जीवन का यह एक अति महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसके निष्ठापूर्वक अनुसरण से संसार की प्रायः सारी समस्यायें सुलझ जायेंगी। आज संसार दुःख और दुर्गति के त्रासकारी प्रभाव से

कराह रहा है। युद्ध, विनाश और शोषण की दुराशंकायें सर्वत्र विद्यमान हैं। कहीं शान्ति, सन्तोष, विश्राम नहीं है। हर कोई स्वार्थ के विचारों में डूबा हुआ है, बिना इसका ख्याल किये कि इससे दूसरों की क्या हानि और क्षति होगी। सद्भाव और सहानुभूति के साथ निष्पक्ष और खरा व्यवहार, जिस पर न्यायतः दूसरे का हक है उसे हड़प लेने के जाली दावों का परित्याग—जो विश्व-शान्ति की समस्या का आधारभूत समाधान है—हर कहीं दुर्लभ है। यदि संसार को किसी तरह जीवन में इस उदात्त सिद्धान्त को अपनाने के लिये राजी किया जा सके तो अशांति के कारण आसानी से बहुत कम किये जा सकते हैं। पर इसमें न गाँधीवादी अहिंसा का सिद्धान्त निहित है, न उदासीन समर्पण का सिद्धान्त जो न्याय पक्ष के भी प्रतिकूल हो। बुराई का, चाहे वह निज की ओर चाहे दूसरे की ओर अभिलक्षित हो, पूरी शक्ति के साथ प्रतिरोध करना चाहिये। "उचित पावना" हर मामले में समान रूप से लागू होना है। सताये गये के लिए इसका अर्थ है उस पर किये गयें अन्यायों का उचित प्रतिकार और उसके अधिकारों और विशेषाधिकारों की पुनः प्राप्ति। इसके विपरीत सताने वाले के लिए इसका अर्थ प्रतिरोध, दमन और दण्ड है। बल के प्रयोग पर रोक थाम उन मामलों में नहीं है जहाँ वह आवश्यक हो। पर यह सब मैत्री भाव से करना चाहिए, बैर या द्वेष वश नहीं—

जैसा हम अपने बहुत प्रिय पात्रों पर अपनत्व भाव से अनुग्रह या रोष करते हैं।

(६) शिष्टाचार के सामान्य नियमों का पालन करते हुए बड़ों के साथ सम्मानपूर्ण और छोटों के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करो।

यह एक सामान्य सिद्धान्त है जिसके लिए प्रायः सभी सन्तों और गुरुओं का आग्रह रहता है। यह जीवन के सामान्य नियमों की ओर संकेत करता है जिनका हर किसी को अपने दैनिक जीवन में पालन करना चाहिये। चरित्र-निर्माण में, जो रूपान्तरण के लिए आवश्यक कदम है, यह बहुत काम का है। इससे दिल में नरमी, मिजाज में ठंढक और स्वभाव में सब तरह से अच्छाई आती है। यह सर्वाधिक आवश्यक सद्गुण है जो मनुष्य को सच्चा प्राणी बनाता है। यह भक्ति का, जो आध्यात्मिक साधना के लिए अपरिहार्य है, छद्म रूप है।

(७) हृदय से क्रोध और प्रतिशोध की भावनाओं को परे हटा कर तंगहाली को सहनशीलता के साथ बिताओ।

जीवन की दुःखदायी अवस्था तंगहाली है, जिसमें सब तरह की दुर्गतियाँ और विषाद शामिल हैं। यह संस्कारों के फलों के कारण अनिवार्य भी है। संस्कारों से किसी तरह बचा नहीं जा सकता, जब तक कि उनके फलों को भोगकर उन्हें समाप्त न

कर दिया जाय। इस अर्थ में उन्हें शाप के रूप में वरदान मानना चाहिये। जब स्थिति ऐसी है, तो हमें, भगवदिच्छा के सामने आत्मसमर्पण करते हुए, तंगहाली को सौभाग्यपूर्ण घटना मानना चाहिए। पर ऐसे भी आदमी होते हैं जो हम पर किये गये अन्याय के लिए उत्तरदायी दिखते हैं। इस कारण वे बहुत बार हमारे क्रोध के लक्ष्य हो जाते हैं। पर उस भावना से कष्ट में केवल वृद्धि होती है। यदि इस सिद्धान्त का पालन किया जाय तो दुर्गतियों का प्रभाव न केवल अल्पतम हो जायेगा बल्कि एकदम सहज हो जायेगा और उसी में कुछ अच्छा लगने लगेगा। इसी कारण सन्तों ने भगवान् से संसार की सारी तकलीफें अपने को देने की प्रार्थना की है।

(८) जीवन के सभी कामों में सहिष्णुता और संयम बरतो।

सहिष्णुता और संयम सामंजस्य-पूर्ण जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं। आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार की अशान्ति का कारण मन की असंतुलित वृत्तियाँ हैं। संयम उचित संतुलन की पुनः स्थापना से संबन्ध रखता है। पर सहिष्णुता संयम विकसित करने का साधन है। संयम उपलब्ध होने पर असंतुलित वृत्तियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं और आन्तरिक शान्ति पुनः स्थापित हो जाती है। हमारी अधिकांश सांसारिक समस्याओं का यह आधारभूत समाधान हो सकता है।

(९) उच्चतम को लक्ष्य बनाओ और उसे प्राप्त करने के लिए सही और सच्चे प्रयास करो।

यह एक अत्यावश्यक बात है जो मानव-जीवन के सभी पक्षों —सांसारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—पर समान रूप से लागू होती है। हर मामले में लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है। केवल तभी सफलता सुनिश्चित हो सकती है। अब चूंकि अध्यात्म में हमारा चरम प्रयोजन सूक्ष्मता की चरम अवस्था की प्राप्ति है, यह अनिवार्य ही है कि हमारी दृष्टि चरम अवस्था पर जमी रहे। लक्ष्य के उच्चतम होने पर ही उच्चतम सफलता मिल सकती है और हमारे प्रयासों में भी तीव्रता तभी आयेगी जब ध्येय की प्राप्ति के लिए ललक बहुत गहरी होगी।

नैतिक अनुशासन के सामान्य नियम

१. यथासंभव, पास-पड़ोस से अप्रभावित रहते हुए, सादा जीवन बिताओ।

२. सौम्य, नम्र, मधुर बनो।

३. सम्बन्धों के संकीर्ण बन्धनों से मुक्त रहते हुए, पड़ोसियों और सम्बन्धियों से घनिष्टता का व्यवहार रखो।

४. गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों के समुचित पालन के लिए, अपने बच्चों, परिवार और सम्बन्धियों के प्रति अपने

उत्तरदायित्व का यथोचित निर्वाह करते हुए, पति पत्नी को गाड़ी के दो पहियों के समान क्रियाशील होना चाहिये।

५. मित्रता की सनक छोड़ दो।

६. पवित्र और अपवित्र का उचित ध्यान रखते हुए भोजन की सभी वस्तुओं के लिए रुचि रखो।

७. अधीनस्थता के नियमों का पालन करते हुए अपने अधिकारियों के साथ विनम्रता का व्यवहार करो।

८. अपना अयाचित मत लोगों पर न लादो।

९. असामान्य मामलों को छोड़ कर, जिनमें तुम पक्की तरह से समझो कि बात वश के बाहर हुई जा रही है, रोगियों को दवा बताने से दूर रहो (हाँ, चिकित्सकों पर यह लागू नहीं होता)।

१०. किसी को अपना भेद न बताओ। लोगों को यह भी न लगे कि उनसे भेद छिपाया जा रहा है।

११. अपरिहार्य परिस्थितियों को छोड़ कर किसी से भी व्यक्तिगत सेवा स्वीकार करने से बचो; और वह भी उसी सीमा तक स्वीकार करो जिस सीमा तक तुम भी बदले में वैसी ही सेवा करने को तैयार हो।

१२. अनर्गल बातचीत और किस्सा कहानी पढ़ने का व्यसन न पालो।

—:o:—

अध्याय ६

जो भावी है

उद्धार-कर्त्ता

"यद्यपि मैं स्वयं अजन्मा और अमर हूँ और सभी जीवों का प्रभु हूँ फिर भी अपनी प्रकृति को अपने अधीन रखते हुए मैं अपनी योगमाया (दैवी शक्ति) के माध्यम से स्वयं को प्रकाशित करता हूँ।"

यह मनुष्य रूप में महान् अवतार कृष्ण भगवान ने कहा था। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि समय-समय पर दिव्य आत्मा (परमात्मा) मनुष्य के रूप में अवतार लेकर या उद्धार-कर्त्ता बन कर पृथ्वो पर आती है। यही प्रकृति का क्रम है जो हिन्दू शास्त्रों में उद्घोषित है और जो खरा सत्य है। ईश्वरीय ऊर्जा धरती पर तभी उतरती है जब प्रकृति को उसकी उपस्थिति की जरूरत पड़ती है। अवतार या उद्धारक का आना केवल संयोग का बात नहीं है बल्कि प्रकृति की किसी निर्दिष्ट योजना के अनुसार होता है। ईश्वरीय संकल्प, प्रकृति के कार्य-संपादन के लिए, उसे धरती पर भेजता है। अन्य कुछ धर्मों का भी यही मत है। संसार में दूसरे ईसा मसीह के आने का बाइबिल में

आश्वासन दिया है। मुसलमान भी हिजरी की चौदहवीं सदी के अन्त में ऐसे व्यक्ति–इमाम मेहदी–के अवतरण की घोषणा करते हैं। इसके अतिरिक्त, अतीत और वर्तमान युग के संतों ने समय-समय पर इसी प्रकार की अनेक भविष्य-वाणियाँ की हैं। इस तरह अवतार या उद्धारक के प्रकट होने के विषय में अधिकांश मत आपस में बहुत मिलते हैं। इस मत को मानने वाले आज के अधिकांश महान् सन्त मानव रूप में ऐसे महान् व्यक्ति के प्रकट होने की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अवतार लेने का प्रयोजन

स्पष्टत: संसार में मानव के रूप में उसके आने का प्रयोजन पाप की उन शक्तियों को नष्ट करना है, जो संसार में अति प्रबल हो उठती हैं और चारों ओर दुर्व्यवस्था की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। आज की समग्र विश्व सभ्यता शुद्ध भौतिकता पर आधारित है जिसे मानव मन में इतना महत्त्व प्राप्त हो गया है कि उनमें से अधिकांश को ईश्वर की सत्ता तक फालतू लगने लगी है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक अध: पतन चरम सीमा तक पहुँच गया है। अधिकांशत: धर्म केवल धंधा रह गया है। धर्म के वेष में अधार्मिकता साधारणत: सर्वत्र व्याप्त है। जीवन के सभी पक्षों में पाखण्ड, स्वार्थपरता और अहंमन्यता का बोलबाला है। पाप और अधोगति का अन्धकारमय वातावरण सर्वत्र फैल रहा है। प्रकृति की सामान्य

कार्य-प्रणाली खतरे में लगती है। ऐसी भयंकर स्थिति सर्वत्र फैली है जिसके मानवी नियन्त्रण से बाहर हो जाने के कारण, प्रकृति के मजबूत हाथ ही उसे या तो सुधारेंगे या नष्ट कर देंगे। गुरुदेव के निम्नलिखित शब्द इस मत का समर्थन करते हैं :—

"बिजली और परमाण्वीय ऊर्जा पर आधारित विश्व-सभ्यता की वर्तमान संरचना अधिक समय तक कायम नहीं रहेगी। इसका शीघ्र पतन अनिवार्य है। समग्र वातावरण चरम भौतिकता के विषाक्त प्रभाव से इतना दूषित हो गया है कि इसे निर्मल करना मानवीय नियन्त्रण के बाहर है।"

जब ऐसी स्थिति होती है तब अवतार का आना अनिवार्य हो जाता है। धरती पर उनके आने का प्रयोजन गीता के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। भगवान कृष्ण कहते हैं :—

"हे अर्जुन, जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब ही मानव रूप में मैं अपने को प्रकट करता हूँ।"

इसका अर्थ है कि मनुष्य के आसुरी ढंगों से उत्पन्न विषाक्त प्रभाव से विश्व के वातावरण को निर्मल करने और शुद्धता,

पवित्रता और आस्तिकता के आधार पर नये विश्व का निर्माण करने के लिए वे अवतार लेते हैं।

अवतरण-काल

उनके अवतार का समय भी वस्तुतः वही होना चाहिये जो ऊपर के श्लोक में वर्णित है, यानी जब जीवन में बुराई और पाप के वातावरण का सृजन करते हुए, जीवन के आसुरी तरीकों की सर्वत्र प्रधानता हो जाती है। अब इस बात की जाँच और निर्णय हमारे हाथ में है कि क्या संसार की वर्तमान दशा सचमुच वैसी है या नहीं। यदि वैसी है, तो हमें स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि धरती पर अवतार के प्रकट होने का समय आ गया है। यदि वैसी नहीं है तो हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक अधःपतन पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच जाता। संसार के अधिकतर महान् व्यक्ति इस बात पर सहमत लगते हैं कि उत्कण्ठित मानवता को अनर्थ और विनाश से बचाने के लिए दीर्घ-काल से प्रतीक्षित ईश्वरीय विशिष्ट सत्ता के अवतरण का ठीक यही समय या निर्धारित क्षण है। संसार के अनेक ईश्वर परायण लोगों ने जो मत व्यक्त किये हैं उनसे मुझे यह जान कर बहुत खुशी हुई कि उद्धारक के अवतरण का प्रश्न प्रायः हर एक के मन में सबसे ऊपर है। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह तो मानते हैं कि वह शीघ्र आने वाले हैं पर जिन्हें यह मानने में आपत्ति है कि वे पहिले ही अवतार

ले चुके हैं। संसार में उनकी उपस्थिति के चिह्नों का पता लगा लेने, या उसे अपने हृदय में अनुभव करने, की अपनी अक्षमता के कारण ऐसा है। पर दूसरे ऐसे लोग हैं जिन्हें पक्का भरोसा है कि वे अवतार ले चुके हैं और आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं और अपने ईश्वरीय कार्यक्रम में चुपचाप और अलक्षित रूप से लगे हुये हैं। मेरे गुरुदेव शायद अकेले ऐसे व्यक्ति हैं जिनका इस सम्बन्ध में बहुत जोरदार दावा है। अपनी पुस्तक "राजयोग का दिव्य दर्शन" में वे कहते हैं :—

"प्रकृति अब परिवर्तन—विश्व का पूर्णतः जीर्णोद्धार—चाहती है और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि उस प्रयोजन के लिए एक विशिष्ट सत्ता पहिले ही आ चुकी है और प्रायः ढाई साल से कार्य-रत है।"

यह मत भौतिकतापरायण मन को भले रुचिकर न लगे पर यह असंदिग्ध सत्य है। वे अभी भले अज्ञात और अप्रकाशित हों पर संसार के सामने उनकी उपस्थिति, उनके माध्यम से प्रकाश में आने वाली घटनाओं के द्वारा, उजागर होगी। इसलिए सारे साक्ष्यों और अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मैं संसार को पूरी गंभीरता के साथ विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि संसार में वह ईश्वरपरायण आत्मा मानव-रूप में (अवतार या उद्धारक के रूप में) मौजूद है और परिवर्तन लाने के अपने कार्य-क्रम में लगी है।

संकेत

संसार को अवतार के प्रकट होने की सूचना न ढोल बजा कर, न आकाश के अलौकिक दृश्य द्वारा, न किसी चमत्कार-पूर्ण साधन से दी जायेगी जिससे सामान्य लोगों के भौतिकता-परायण मन का समाधान हो। यद्यपि अधिकतर लोगों को उनका पता नहीं रहता, पर ईश्वरपरायण लोग उनकी सत्ता से कभी अपरिचित नहीं रहते क्योंकि इस तथ्य को प्रकट करने के लिए प्रकृति का अल्पतम संकेत उनके लिए काफी है। संत रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अवतार के आने का अतिसामान्य संकेत है :—

"जब एक अति विशाल लहर उठती है तो अपने किसी प्रयत्न या जानकारी के बिना सभी नाले और गड्ढे लबालब भर जाते हैं। उसी तरह जब अवतार होता है तो अध्यात्म की एक विशाल लहर संसार पर टूट पड़ती है और लोग अध्यात्म को हवा में भरा हुआ अनुभव करते हैं।"

आइये अब हम बेलाग मन से देखें और निर्णय करें कि संसार में वैसी दशा व्याप्त है या नहीं। अगर व्याप्त है तो वह निःसन्देह अवतार की हमारे बीच उपस्थिति की घोषणा करती है।

प्रकृति के क्रम की अपनी अन्तःप्रेरणा द्वारा जानकारी के

आधार पर, आज से सत्तर वर्ष पूर्व, अमेरिका में अपने एक भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने भी इसका हवाला दिया है। वे कहते हैं :—

"आज मनुष्य को आध्यात्मिक तल पर एक और व्यवस्थापन की जरूरत है। आज जब भौतिकतावादी विचार अपनी महिमा और शक्ति के उच्चतम बिन्दु पर हैं, आज जब इस बात की संभावना है कि मनुष्य पदार्थों पर अपनी बढ़ती हुई निर्भरता के कारण अपनी दिव्य प्रकृति को भूल जाय और पैसा कमाने वाला यन्त्र मात्र रह जाय, एक व्यवस्थापन आवश्यक है। बढ़ती हुई भौतिकता के बादलों को विच्छिन्न करने के लिए एक शक्ति आ रही है, एक आवाज बोल चुकी है। शक्ति गतिमान हो चुकी है जो बहुत शीघ्र मानवता को अपनी यथार्थ प्रकृति की एक बार फिर याद दिला देगी; और जहां से यह शक्ति चालू होगी वह प्रदेश एक बार फिर एशिया होगा।"

उनकी उपस्थिति का प्रमाण

मैं कह सकता हूँ कि उनकी उपस्थिति को परखने के लिए, जैसा मेरे गुरुदेव सुझाते हैं, जो कोई ऐसा चाहे कुछ देर तक ईमानदारी से यह सोचते हुए ध्यान करे कि मुझे अवतीर्ण महा-पुरुष से आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा मिल रही है और अनुभव करके परखे कि उसे वह मिलती है या नहीं। यदि उसे मिलती

है तो यह उनके अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण है। उनका पता लगाने का एक और पक्का उपाय है—पता लगाने के लिए कुछ समय तक निरन्तर विश्वासपूर्वक ध्यान करना। यह कुछ सीधे उपाय हैं जिनके द्वारा कोई भी संसार में उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है और उनके सही ठिकाने का भी पता लगा सकता है। यदि वह दिल से ऐसा चाहता है तो उनसे उसका व्यक्तिगत सम्पर्क भी सध सकता है। योग्यता सम्पन्न संतों के लिए प्रकृति के संकेतों को समझ लेना या दिव्य दृष्टि से सीधे उनसे (ईश्वर से) अन्तःसंपर्क करना सुलभ है।

मैं सारे संसार के अपने बन्धुओं से आग्रहपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मेरी बातों को मजाक में न लीजिये बल्कि सारे भ्रम त्याग कर ऊपर सुझाये गये साधनों को निष्ठा के साथ परखिये और दिव्य अनुग्रह का, जो सौभाग्यवश आज हमारे भाग में आया है, लाभ उठाइये। मैं आपको अपनी शक्ति भर विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान काल उन दुर्लभतम अवसरों में से एक है जब हम महान अवतार के अनुग्रहपूर्ण आशीर्वाद के बल पर अपने अल्पतम प्रयास से उच्चतम स्थान तक अल्पतम समय में पहुँच सकते हैं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उस पर आँख बन्द कर विश्वास मत कीजिए पर कम से कम प्रयोग करके स्वयं सच्चाई का पता लगाने का प्रयास कीजिए, और यदि

आपकी जाँच में वह खरा उतर जाय तो उस पर विश्वास कीजिए।

एक चेतावनी

पर इस सम्बन्ध में एक और बड़े महत्त्व की बात है जिसके विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए। वह यह है कि ईश्वरीय विशिष्ट सत्ता के अभी अज्ञात और अप्रकाशित होने के कारण यह हो सकता है कि कुछ चतुर व्यक्ति स्वयं को उद्धारक या अवतार होने का झूठा दावा करने लगें। अपने को अलौकिक प्राणी के रूप में, जो लोगों को बचाने के लिए आये हैं, आरोपित करने के लिए असाधारण चमत्कारों का प्रदर्शन करते हुए वे प्रयास भी कर सकते हैं। इसलिए हर एक व्यक्ति के लिए सजग रहना आवश्यक है जिससे वह उनके धोखे में न आ जाये। बाइबिल की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रभु ईसा मसीह भी उनके विरुद्ध चेतावनी देते हैं (मैथ्यू २४) :—

२३. तब तुमसे यदि कोई कहे कि अरे, ईसा मसीह यह रहे, वह रहे, तो उसका विश्वास मत करो।

२४. क्योंकि झूठे ईसा मसीह और झूठे भविष्यद्रष्टा उठ खड़े होंगे और इतने बड़े बड़े संकेत और चमत्कार दिखायेंगे कि वे बहुत श्रेष्ठ लोगों को भी यथासंभव धोखे में डाल देंगे।

२५. देखो, मैंने तुम्हें (यह सब) पहिले बता दिया है ।

२६. इसलिए यदि वे तुमसे कहें कि देखो, वह रेगिस्तान में है तो उधर न चल देना; या वे कहें कि देखो वह गुप्त कक्ष में है तो इस पर विश्वास मत कर लेना ।

२७. क्योंकि जैसे (सूर्य का) प्रकाश पूर्व दिशा में प्रकट होता है और पश्चिम दिशा तक चमकता जाता है, उसी तरह मानव-पुत्र[1] का आगमन होगा ।

अन्तिम छन्द में प्रभु ईसा लोगों को विश्वास दिलाते हैं हैं कि मानव-पुत्र (अवतार, उद्धारक या फिर से लौटे ईसा) पूर्व में अवतीर्ण होंगे और उनके द्वारा सत्य का प्रकाश पश्चिम की ओर बढ़ेगा, हर बात को स्पष्ट और प्रकाशित करते हुए और सारे रहस्यों को उद्घाटित करते हुए ।

उनका भौतिक स्वरूप

ऐसे महान विशिष्ट व्यक्ति को उसके बाह्य रूप या भौतिक स्वरूप से परखना शायद बहुत कठिन हो । सामान्यतः संसार में अवतार के जिस रूप में आने की आशा होती है, उसके विषय में हर किसी की पूर्व-निर्धारित धारणायें होती हैं और वे सब प्राचीन लेखकों या विचारकों के प्रतीकात्मक विवरणों

---

१. ईश्वर-पुत्र ।

पर आधारित होती हैं। जब वह विशिष्ट स्वरूप उन्हें दिखलाई पड़ता है केवल तभी विश्वास करने को उनका मन होता है। साधारणतः हम आशा करते हैं कि वे बाह्य महिमा से पूर्ण अति प्रभावशाली रूप में प्रकट होंगे। दृष्टि पड़ते ही लोग समर्पण कर दें इस प्रयोजन से वे पग पग पर अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन करेंगे। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि सारी पृथ्वी पर उनका राज्य होगा; अतः स्वभावतः आशा की जाती है कि वे बाह्य स्वरूप से एक महान राजा या कम से कम एक महान धार्मिक नेता होंगे। पर संभव है कि जो हम सोचते या विश्वास करते हैं वह अक्षरशः सही न हो। वस्तुतः ईश्वरीय महिमा को उनके बाह्य स्वरूप या आकृति में नहीं, बल्कि उनकी सत्ता में परखने और अनुभव करने का उत्तरदायित्व केवल हमारा है। बाह्यतः वे इतने सरल और विनम्र हो सकते हैं कि उनकी सरलता ही उनकी यथार्थ सत्ता के लिए एक परदा बन जाती है। वे किसी राष्ट्र, वंश या धर्म विशेष के न होंगे यद्यपि वे एक न एक के दायरे में जन्म लेंगे। उनकी सत्ता विश्व-व्यापी है। यथासंभव दीनता के साथ राह चलते एक साधारण आदमी की, थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिये, जिसमें उधर से निकलने वाले किसी व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने के लिए कोई विशिष्टता नहीं है। क्या कोई उसे अवतार या उद्धारक मानने को तैयार होगा ? मैं समझता हूँ, बिलकुल नहीं। पर जैसे कूड़े के ढेर में पड़े हुए रत्न को पह-

चानने में किसी जौहरी की आँख चूकती नहीं, उसी तरह दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न योग्यता-प्राप्त सच्चे संत की दृष्टि भी उन्हें यथावत पहचानने में कभी नहीं चूकती, वे बाहर से चाहे जितने सरल और विनम्र दिखते हों। उनका सारा बाह्य जीवन, सामान्य सांसारिक जीवन के उतार चढ़ाव का सामना करते हुए, ठीक साधारण मनुष्य के जीवन के समान होगा क्योंकि मानवीय रूप में होने के कारण उन्हें सच्चे अर्थ में मानव की भूमिका निबाहनी पड़ती है। इसलिए जो लोग उनको केवल उनके बाह्य रूप, विस्तृत ज्ञान या चमत्कारपूर्ण कामों से परखने की सोचते हैं वे निश्चयतः असफल होंगे। इसलिए उद्धारक या अवतार के यथार्थ ज्ञान के लिए हमें अपनी सारी आत्म-निर्धारित धारणायें और विचार हटा देने चाहिए और सच्चाई के साथ इस प्रयोजन के उपयुक्त किसी साधन को अपना कर या दिव्य-अंतर्दृष्टि-संपन्न महान सन्तों के अनुभव और निर्णय पर भरोसा करके, जिन्होंने प्रकृति के संकेत समझ लिये हैं या जिनका उच्च आत्माओं से अन्तःसम्पर्क है, उनका पता लगाने का प्रयास करना चाहिये।

उनका यथार्थ स्वभाव

अवतार या उद्धारक सारे दैवी गुणों से संपन्न होता है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होता है। स्थूल शरीर से केवल एक स्थल पर विद्यमान रहने के बावजूद, वह सूक्ष्म शरीर से

सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्र-लोक—सब में एक ही समय पर प्रकट हो सकता है। वह दयालु, परोपकारी, न्यायी और कृपाशील है और हर किसी को उसका प्राप्य मुक्त हस्त से देता है। सज्जनों पर वह अपने वरदानों की भरपूर वर्षा करता है पर दुष्टों और आसुरीवृत्ति वालों को दण्ड भी देता है, नष्ट भी करता है। उसकी शक्ति अनन्त है। प्रकृति की सारी शक्तियाँ उसके वश में रहती हैं और अपने हाथ में लिए काम को पूरा करने के लिए वह उन्हें किसी भी समय क्रियाशील कर सकता है। उसकी सारी क्रियायें दिव्य होती हैं और कभी कभी आश्चर्य-जनक और चमत्कार-पूर्ण लग सकती हैं। पर ऐसा केवल तभी होगा जब प्रकृति की योजना-पूर्ति के लिए उनकी सच्ची आवश्यकता होगी। दैवी कार्यों से सम्बद्ध सभी मामलों में उसकी इच्छा-शक्ति अचूक होती है। सभी लोगों को तन्मया-वस्था में लाने के लिए, वह किसी भी स्थान, किसी भी देश या समस्त विश्व तक को उच्चतम आध्यात्मिक शक्ति से ओत-प्रोत कर सकता है। मर्जी होने पर वह दृष्टि निक्षेप मात्र से किसी को भी उच्चतम आध्यात्मिक पहुँच प्रदान कर सकता है। वह अपने संकल्प मात्र से किसी भी व्यक्ति के सारे अतीत संस्कारों (कर्म-फलों) को मिटा सकता और उसे सारे बन्धनों से मुक्त कर सकता है। यदि आप सौभाग्यवश इन अलौकिक शक्तियों से संपन्न किसी व्यक्ति से मिलते हैं तो उसे साधारण

मनुष्य नहीं, बल्कि संसार के उद्धारार्थ आया अवतार समझिये। भगवान करे हम लोग उन्हें समय रहते पहचान ल।

उसका कार्य

अवतार या उद्धारक धरती पर किसी निर्दिष्ट काम के लिए और एक निश्चित कार्यक्रम के साथ आता है, जैसा कि गीता के निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है :—

"साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म (सदाचार) के संस्थापन के लिए मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूँ।"

इस प्रकार उसके कामों में सर्वप्रधान है धरती पर से दुराचारियों को हटाना। यह सोचना गलत है कि धरती पर अवतार के प्रकट होते ही सब लोग तत्क्षण पवित्र और सदाचारी बन जायेंगे, धरती की सारी चीजें तुरन्त ठीक हो जायेंगी और धरती के सारे प्राणियों का उद्धार हो जायेगा। उद्धारकर्त्ता शब्दार्थ के अनुसार केवल त्राणकर्त्ता ही नहीं, हन्ता और विनाश-कर्त्ता भी होता है। निःसन्देह सज्जनों के लिए वह त्राता होता है पर दुराचारियों और अधर्मियों के लिए वह संहारक भी होता है। वह धरती की शक्ल बदल डालने के लिए आता है। इस लिए संसार उसके लिए पुष्प-शय्या नहीं होगी बल्कि दुराचार और दुराचारियों को संसार से हटाने के लिए उसे बहुत प्रयास और संघर्ष करना पड़ेगा, युक्ति निकालनी पड़ेगी और सब

साधनों को सक्रिय करना पड़ेगा। हर दिशा से उसे विरोध का सामना करना पड़ेगा। अधर्मी लोग जिनकी विश्व-जन-संख्या में विपुलता है, उसकी खिल्ली उड़ायेंगे और उसे बुरा भला कहेंगे। शायद उसके अनुयायी और समर्थक भी केवल थोड़े हों। पर इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद, वह विनाश और निर्माण के अपने कार्यक्रम को कुशलता और सफलता के साथ पूरा करता रहेगा। उसके पास सुधार या विनाश यह दो ही विकल्प रहेंगे। अपने काम में वह जरा भी कसर नहीं रखेगा। अपने अतीत के संस्कारों (कर्म-प्रभावों) के परिणाम स्वरूप जो दुराचारी समय रहते अपना सुधार नहीं करते उन्हें विनाश का सामना करना पड़ेगा।

अन्तिम अवस्था

उनका कार्यक्रम शुरू हो चुका है, उसके चिह्न स्पष्ट हैं, भले वे आत्मकेन्द्रित व्यक्तियों को न दिखलाई पड़ें। शीघ्र ही घोर मनस्ताप और अभूतपूर्व दुर्गति का युग सारे विश्व पर छाने वाला है। ऐसी परिस्थितियों में प्रकृति का सदा ऐसा ही क्रम होता है। राम का रावण के साथ युद्ध, महाभारत का युद्ध, नोआ के समय का आप्लावन—थोड़े से उदाहरण हैं। प्रकृति ने परिवर्तन के अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए वैसी ही प्रवृत्ति धारण की है। उसी के लिए दिव्य विशिष्ट सत्ता, जो अवतार या उद्धारक के रूप में आई है, जोरों से

अपने काम में लगी हुई है। अन्तिम अवस्था की ओर विश्व की द्रुत प्रगति का संकेत देने वाले चिह्न सुस्पष्ट हैं। नये नये कारण प्रति क्षण उठ खड़े हो रहे हैं, पदार्थ एकत्रित और बहुगुणित हो रहा है और मन की वृत्तियाँ दूषित होती जा रही हैं। एक ही अन्त की ओर, प्रकाश में आने वाली घटनायें सीधे या परोक्ष संकेत दे रही हैं। भीषण संकट आसन्न और अनिवार्य है। विभिन्न स्थानों में विभिन्न कारणों द्वारा धरती पर से अवांछनीय तत्त्वों का सम्पूर्ण विनाश घटित हो रहा है। ऐसा चाहे तूफान और बाढ़ से, चाहे अकाल और रोगों से, चाहे युद्ध और जनसंहार से और चाहे ज्वालामुखीय विस्फोट इत्यादि जैसी दैवी आपदाओं से हो रहा हो।

बाइबिल में भी उद्धारक के धरती पर अवतरण के साथ ऐसे अभूतपूर्व विनाश के घटित होने की भविष्यवाणी है। प्रभु ईसा लोगों को इन दुःखद घटनाओं की चेतावनी देते हैं और जो धर्मात्मा हैं उनकी सहायता करने का वचन देते हैं। मेरे गुरुदेव भी "सत्य का उदय" में स्पष्ट इसी की चर्चा करते हैं :—

"अब अन्तिम दृश्य के लिए समय परिपक्व हो चुका है और संसार उसकी ओर तेजी से बढ़ रहा है। यह कार्य इस शताब्दी के अन्त तक पूरे वेग से प्रारम्भ हो सकता है।"

"विश्व के अवांछित तत्त्वों का विनाश आरम्भ हो चुका है, इसके संकेत स्पष्ट हैं।"

"संपूर्ण विश्व में घोर रक्तपात होगा और विभिन्न कारणों से जन-हानि इतनी अधिक होगी कि विश्व की जनसंख्या बहुत कम हो जायेगी।"

यह सब बातें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि विश्व विनाश के एक दम कगार पर है और अब हमारे पास फालतू समय बिल्कुल नहीं है। इसलिए अपनी सुरक्षा के लिए जो कुछ करना है झटपट कर डालना है ताकि देर न हो जाय। दुनिया की (जैसी यह आज है) यह भावी नियति है; पुरानी व्यवस्था बदलेगी, नया संसार जन्म लेगा। मेरे गुरुदेव इसे निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

"आगामी विश्व का नवीन ढाँचा राख एवं कंकालों पर निर्मित होगा। भारत में अध्यात्म पर आधारित एक सभ्यता का प्रादुर्भाव होगा और वही यथाक्रम विश्व-सभ्यता हो जायेगी। कोई देश या राष्ट्र अध्यात्म को अपना आधार बनाये बिना जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक राष्ट्र को किसी न किसी समय इसे अपनाना ही होगा, यदि वह अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है।"

इसे केवल भविष्य-वाणी मानना गलत होगा। यह तो

महान दिव्य विशिष्ट सत्ता के भावी कार्यक्रम की कुछ रहस्यमय बातों का उद्घाटन है। चाहे मानिये या न मानिये पर इस बात के चिह्न सुस्पष्ट हैं कि संसार उसकी ओर अंधाधुंध गति से बढ़ता जा रहा है। हाँ, इसमें समय लग सकता है, पर वह भी अधिक नहीं। उनके परिवर्तन वाले कार्यक्रम की अधिकांश बातें वर्तमान (ईसवी) शताब्दी के अंत तक घटित होने वाली हैं। इसलिए हमें समय रहते जग जाना और सुधर जाना चाहिये जिससे न्यायपरायणता पर आधारित आगामी विश्व की नई व्यवस्था में हमारा स्थान सुरक्षित रहे। मैं अब इस प्रार्थना के के साथ यह पुस्तक समाप्त करता हूँ :—

"कल्याणकारी भगवान् हमें प्रकाश प्रदान करें और हमारा निर्देशन करें। वे विश्व-त्राता, महान अवतार का हमें ज्ञान प्राप्त करायें और उनके संकल्प के सम्मुख भक्तिपूर्ण समर्पण करने की हमें प्रेरणा दें।"

—:०:—